****

नचिकेता ! आत्मतत्त्व कोई साधारण-सी बात नहीं। जगत्में अधिकांश मनुष्य तो ऐसे हैं—जिनको आत्मकल्याणकी चर्चातक सुननेको नहीं मिलती। वे ऐसे वातावरणमें रहते हैं कि जहाँ प्रातःकाल जागनेसे लेकर रात्रिको सोनेतक केवल विषय-चर्चा ही हुआ करती है, जिससे उसका मन आठों पहर विषय-चिन्तनमें डूबा रहता है। उनके मनमें आत्मतत्त्व सुनने-समझनेकी कभी कल्पना ही नहीं आती और भूले-भटके यदि ऐसा कोई प्रसङ्ग आ जाता है तो उन्हें विषय-सेवनसे अवकाश नहीं मिलता। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो सुनना-समझना उत्तम समझकर सुनते तो हैं, परंतु उनके विषयाभिभूत मनमें उसकी धारणा नहीं हो पाती अथवा मन्दबुद्धिके कारण वे उसे समझ नहीं पाते। जो तीक्ष्णबुद्धि पुरुष समझ लेते हैं, उनमें भी ऐसे आश्चर्यमय महापुरुष कोई विरले ही होते हैं, जो उस आत्मतत्त्वका यथार्थरूपसे वर्णन करनेवाले समर्थ वक्ता हों। एवं ऐसे पुरुष भी कोई एक ही होते हैं, जिन्होंने आत्मतत्त्वको प्राप्त करके जीवनकी सफलता सम्पन्न की हो; और भलीभाँति समझाकर वर्णन करनेवाले सफलजीवन अनुभवी आत्मदर्शी आचार्यके द्वारा उपदेश प्राप्त करके उसके अनुसार मनन-निदिध्यासन करते-करते तत्त्वका साक्षात्कार करनेवाले पुरुष भी जगत्में कोई विरले ही होते हैं। अतः इसमें सर्वत्र ही दुर्लभता है॥ ७॥

सम्बन्ध—*अब आत्मज्ञानकी दुर्लभताका कारण बताते हैं—*

न नरेणावरेण प्रोक्त एष
सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति
अणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात्॥ ८॥

अवरेण नरेण प्रोक्तः=अल्पज्ञ मनुष्यके द्वारा बतलाये जानेपर; **बहुधा चिन्त्यमानः**=(और उनके अनुसार) बहुत प्रकारसे चिन्तन किये जानेपर भी; **एषः**=यह आत्मतत्त्व; **सुविज्ञेयः न**=सहज ही समझमें आ जाय, ऐसा नहीं है; **अनन्यप्रोक्ते**=किसी दूसरे ज्ञानी पुरुषके द्वारा उपदेश न किये जानेपर; **अत्र**

गतिः न अस्ति=इस विषयमें मनुष्यका प्रवेश नहीं होता; **हि अणुप्रमाणात्**=क्योंकि यह अत्यन्त सूक्ष्म वस्तुसे भी ; **अणीयान्**=अधिक सूक्ष्म है; **अतर्क्यम्**=(इसलिये) तर्कसे अतीत है॥ ८॥

व्याख्या—प्रकृतिपर्यन्त जो भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व है, यह आत्मतत्त्व उससे भी सूक्ष्म है। यह इतना गहन है कि जबतक इसे यथार्थरूपसे समझानेवाले कोई महापुरुष नहीं मिलते, तबतक मनुष्यका इसमें प्रवेश पाना अत्यन्त ही कठिन है। अल्पज्ञ—साधारण ज्ञानवाले मनुष्य यदि इसे बतलाते हैं और उसके अनुसार यदि कोई विविध प्रकारसे इसके चिन्तनका अभ्यास करता है, तो उसका आत्मज्ञानरूपी फल नहीं होता, आत्मतत्त्व तनिक-सा भी समझमें नहीं आता। दूसरेसे सुने बिना केवल अपने-आप तर्क-वितर्कयुक्त विचार करनेसे भी यह आत्मतत्त्व समझमें नहीं आ सकता। अतः सुनना आवश्यक है; पर सुनना उनसे है, जो इसे भलीभाँति जाननेवाले महापुरुष हों। तभी तर्कसे सर्वथा अतीत इस गहन विषयकी जानकारी हो सकती है॥ ८॥

नैषा तर्केण मतिरापनेया
प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि
त्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा॥ ९॥

प्रेष्ठ=हे प्रियतम!; **याम् त्वम् आपः**=जिसको तुमने पाया है; **एषा मतिः**=यह बुद्धि; **तर्केण न आपनेया**=तर्कसे नहीं मिल सकती (यह तो); **अन्येन प्रोक्ता एव**=दूसरेके द्वारा कही हुई ही; **सुज्ञानाय**=आत्मज्ञानमें निमित्त; [**भवति**=होती है;] **बत**=सचमुच ही (तुम); **सत्यधृतिः**=उत्तम धैर्यवाले; **असि**=हो; **नचिकेतः**=हे नचिकेता! (हम चाहते हैं कि); **त्वादृक्**=तुम्हारे—जैसे ही; **प्रष्टा**=पूछनेवाले; **नः भूयात्**=हमें मिला करें॥ ९॥

व्याख्या—नचिकेताकी प्रशंसा करते हुए यमराज फिर कहते हैं कि हे प्रियतम! तुम्हारी इस पवित्र मति—निर्मल निष्ठाको देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है। ऐसी निष्ठा तर्कसे कभी नहीं मिल सकती। यह तो तभी उत्पन्न

होती है, जब भगवत्कृपासे किसी महापुरुषका सङ्ग प्राप्त होता है और उनके द्वारा लगातार परमात्माके महत्त्वका विशद विवेचन सुननेका सौभाग्य मिलता है। ऐसी निष्ठा ही मनुष्यको आत्मज्ञानके लिये प्रयत्न करनेमें प्रवृत्त करती है। इतना प्रलोभन दिये जानेपर भी तुम अपनी निष्ठापर दृढ़ रहे, इससे यह सिद्ध है कि वस्तुतः तुम सच्ची धारणासे सम्पन्न हो। नचिकेता ! हमें तुम-जैसे ही पूछनेवाले जिज्ञासु मिला करें ॥९॥

सम्बन्ध—*अब यमराज अपने उदाहरणसे निष्कामभावकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं—*

जानाम्यहँ शेवधिरित्यनित्यं
न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्।
ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्नि-
रनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥ १० ॥

अहम् जानामि=मैं जानता हूँ कि; **शेवधिः**=कर्मफलरूप निधि; **अनित्यम् इति**=अनित्य है; **हि अध्रुवैः**=क्योंकि अनित्य (विनाशशील) वस्तुओंसे; **तत् ध्रुवम्**=वह नित्य पदार्थ (परमात्मा); **न हि प्राप्यते**=नहीं मिल सकता; **ततः**=इसलिये; **मया**=मेरे द्वारा (कर्तव्यबुद्धिसे); **अनित्यैः द्रव्यैः**=अनित्य पदार्थोंके द्वारा; **नाचिकेतः**=नाचिकेत नामक; **अग्निः चितः**= अग्निका चयन किया गया (अनित्य भोगोंकी प्राप्तिके लिये नहीं, अतः उस निष्कामभावकी अपूर्व शक्तिसे मैं); **नित्यम्**=नित्य वस्तु परमात्माको; **प्राप्तवान् अस्मि**=प्राप्त हो गया हूँ ॥ १० ॥

व्याख्या—नचिकेता ! मैं इस बातको भलीभाँति जानता हूँ कि कर्मोंके फलस्वरूप इस लोक और परलोकके भोगसमूहकी जो निधि मिलती है, वह चाहे कितनी ही महान् क्यों न हो, एक दिन उसका विनाश निश्चित है, अतएव वह अनित्य है और यह सिद्ध है कि अनित्य साधनोंसे नित्य पदार्थकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इस रहस्यको जानकर ही मैंने नाचिकेत अग्निके चयनादिरूपसे जो कुछ यज्ञादि कर्तव्यकर्म अनित्य वस्तुओंके द्वारा

किये, सब-के-सब कामना और आसक्तिसे रहित होकर केवल कर्तव्य-बुद्धिसे किये। इस निष्कामभावकी ही यह महिमा है कि अनित्य पदार्थोंके द्वारा कर्तव्य-पालनरूप ईश्वर-पूजा करके मैंने नित्य-सुखरूप परमात्माको प्राप्त कर लिया ॥ १० ॥

सम्बन्ध—*नचिकेतामें वह निष्कामभाव पूर्णरूपसे है, इसलिये यमराज उसकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं—*

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां
क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम्।
स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां
दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ॥ ११ ॥

नचिकेतः=हे नचिकेता!; **कामस्य आप्तिम्**=जिसमें सब प्रकारके भोग मिल सकते हैं; **जगतः प्रतिष्ठाम्**=जो जगत्का आधार; **क्रतोः अनन्त्यम्**=यज्ञका चिरस्थायी फल; **अभयस्य पारम्**=निर्भयताकी अवधि (और); **स्तोममहत्**=स्तुति करनेयोग्य एवं महत्त्वपूर्ण है (तथा); **उरुगायम्**=वेदोंमें जिसके गुण नाना प्रकारसे गाये गये हैं; **प्रतिष्ठाम्**=(और) जो दीर्घकालतककी स्थितिसे सम्पन्न है, ऐसे स्वर्गलोकको; **दृष्ट्वा धृत्या**=देखकर भी तुमने धैर्यपूर्वक; **अत्यस्राक्षीः**=उसका त्याग कर दिया; **[अतः**=इसलिये;**]** (मैं समझता हूँ कि) **धीरः [असि]**=(तुम) बहुत ही बुद्धिमान् हो ॥ ११ ॥

व्याख्या—नचिकेता! तुम सब प्रकारसे श्रेष्ठ बुद्धिसम्पन्न और निष्काम हो। मैंने तुम्हारे सामने वरदानके रूपमें उस स्वर्गलोकको रखा, जो सब प्रकारके भोगोंसे परिपूर्ण, जगत्का आधारस्वरूप, यज्ञादि शुभकर्मोंका अन्तरहित फल, सब प्रकारके दुःख और भयसे रहित, स्तुति करनेयोग्य और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वेदोंने भाँति-भाँतिसे उसकी शोभाके गुणगान किये हैं और वह दीर्घकालतक स्थित रहनेवाला है· तुमने उसके महत्त्वको समझकर भी बड़े धैर्यके साथ उसका परित्याग कर दिया, तुम्हारा मन तनिक भी उसमें

आसक्त नहीं हुआ, तुम अपने निश्चयपर दृढ़ और अटल रहे—यह साधारण बात नहीं है। इसलिये मैं यह मानता हूँ कि तुम बड़े ही बुद्धिमान्, अनासक्त और आत्मतत्त्वको जाननेके अधिकारी हो॥ ११॥

सम्बन्ध—*इस प्रकार नचिकेताके निष्कामभावको देखकर यमराजने निश्चय कर लिया कि यह परमात्माके तत्त्वज्ञानका यथार्थ अधिकारी है; अतः उसके अन्तःकरणमें परब्रह्म पुरुषोत्तमके तत्त्वकी जिज्ञासा उत्पन्न करनेके लिये यमराज अब दो मन्त्रोंमें परब्रह्म परमात्माकी महिमाका वर्णन करते हैं—*

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं
गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥ १२॥

गूढम्=जो योगमायाके पर्देमें छिपा हुआ; **अनुप्रविष्टम्**=सर्वव्यापी; **गुहाहितम्**=सबके हृदयरूप गुफामें स्थित (अतएव); **गह्वरेष्ठम्**=संसाररूप गहन वनमें रहनेवाला; **पुराणम्**=सनातन है, ऐसे; **तम् दुर्दर्शम् देवम्**=उस कठिनतासे देखे जानेवाले परमात्मदेवको; **धीरः**=शुद्ध बुद्धियुक्त साधक; **अध्यात्मयोगाधिगमेन**=अध्यात्मयोगकी प्राप्तिके द्वारा; **मत्वा**=समझकर; **हर्षशोकौ जहाति**=हर्ष और शोकको त्याग देता है॥ १२॥

व्याख्या—यह सम्पूर्ण जगत् एक अत्यन्त दुर्गम गहन वनके सदृश है, परंतु यह परब्रह्म परमेश्वरसे परिपूर्ण है, वह सर्वव्यापी इसमें सर्वत्र प्रविष्ट है (गीता ९।४)। वह सबके हृदयरूपी गुफामें स्थित है (गीता १३।१७; १५।१५; १८।६१)। इस प्रकार नित्य साथ रहनेपर भी लोग उसे सहजमें देख नहीं पाते; क्योंकि वह अपनी योगमायाके पर्देमें छिपा है (गीता ७।२५), इसलिये अत्यन्त गुप्त है। उसके दर्शन बहुत ही दुर्लभ हैं। जो शुद्ध-बुद्धिसम्पन्न साधक अपने मन-बुद्धिको नित्य-निरन्तर उसके चिन्तनमें संलग्न रखता है, वह उस सनातन देवको प्राप्त करके सदाके लिये हर्ष-शोकसे

रहित हो जाता है। उसके अन्तःकरणमेंसे हर्ष-शोकादि विकार समूल नष्ट हो जाते हैं* ॥ १२ ॥

एतच्छ्रुत्वा सम्परिगृह्य मर्त्यः
प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य ।
स मोदते मोदनीयँ् हि लब्ध्वा
विवृतँ् सद्म नचिकेतसं मन्ये ॥ १३ ॥

मर्त्यः=मनुष्य (जब); **एतत्**=इस; **धर्म्यम्**=धर्ममय (उपदेश) को; **श्रुत्वा**=सुनकर; **सम्परिगृह्य**=भलीभाँति ग्रहण करके; **प्रवृह्य**=(और) उसपर विवेकपूर्वक विचार करके; **एतम्**=इस; **अणुम्**=सूक्ष्म आत्मतत्त्वको; **आप्य**=जानकर (अनुभव कर लेता है, तब); **सः**=वह; **मोदनीयम्**=आनन्दस्वरूप परब्रह्म पुरुषोत्तमको; **लब्ध्वा**=पाकर; **मोदते हि**=आनन्दमें ही मग्न हो जाता है; **नचिकेतसम्**=तुम नचिकेताके लिये; **विवृतम् सद्म मन्ये**=(मैं) परमधामका द्वार खुला हुआ मानता हूँ ॥ १३ ॥

व्याख्या—इस अध्यात्म-विषयक धर्ममय उपदेशको पहले तो अनुभवी महापुरुषके द्वारा अतिशय श्रद्धापूर्वक सुनना चाहिये, सुनकर उसका मनन करना चाहिये। तदनन्तर एकान्तमें उसपर विचार करके बुद्धिमें उसको स्थिर करना चाहिये। इस प्रकार साधन करनेपर जब मनुष्यको आत्मस्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है अर्थात् जब वह आत्माको तत्त्वसे समझ लेता है, तब आनन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है। उस आनन्दके महान् समुद्रको पाकर वह उसमें निमग्न हो जाता है। हे नचिकेता! तुम्हारे लिये उस परमधामका द्वार खुला हुआ है। तुमको वहाँ जानेसे कोई रोक नहीं सकता। तुम ब्रह्मप्राप्तिके उत्तम अधिकारी हो, ऐसा मैं मानता हूँ ॥ १३ ॥

---

* प्रातःस्मरणीय भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्यजीने भी ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें इस प्रकरणको परमात्मविषयक माना है ('प्रकरणं चेदं परमात्मनः'—देखिये ब्रह्मसूत्र अध्याय १ पा० २ के १२ वें सूत्रका भाष्य)।

सम्बन्ध—*यमराजके मुखसे परब्रह्म पुरुषोत्तमकी महिमा सुनकर और अपनेको उसका अधिकारी जानकर नचिकेताके मनमें परमात्मतत्त्वकी जिज्ञासा उत्पन्न हो गयी। साथ ही उसे यमराजके द्वारा अपनी प्रशंसा सुनकर साधु-सम्मत संकोच भी हुआ। इसलिये उसने यमराजसे बीचमें ही पूछा—*

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥ १४ ॥

यत् तत्=जिस उस परमेश्वरको; **धर्मात् अन्यत्र**=धर्मसे अतीत; **अधर्मात् अन्यत्र**=अधर्मसे भी अतीत; **च**=तथा; **अस्मात् कृताकृतात्**=इस कार्य और कारणरूप सम्पूर्ण जगत्से भी; **अन्यत्र**=भिन्न; **च**=और; **भूतात् भव्यात्**=भूत, वर्तमान एवं भविष्यत्—तीनों कालोंसे तथा इनसे सम्बन्धित पदार्थोंसे भी; **अन्यत्र**=पृथक्; **पश्यसि**=(आप) जानते हैं; **तत्**=उसे; **वद**=बतलाइये ॥ १४ ॥

व्याख्या—नचिकेता कहता है—भगवन्! आप यदि मुझपर प्रसन्न हैं तो धर्म और अधर्मके सम्बन्धसे रहित, कार्य-कारणरूप प्रकृतिसे पृथक् एवं भूत, वर्तमान और भविष्यत्—इन सबसे भिन्न जिस परमात्मतत्त्वको आप जानते हैं, उसे मुझको बतलाइये* ॥ १४ ॥

सम्बन्ध—*नचिकेताके इस प्रकार पूछनेपर यमराज उस ब्रह्मतत्त्वके वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हुए उपदेश आरम्भ करते हैं—*

सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति
तपाँसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदँ संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥ १५ ॥

---

* भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्यजीने इस प्रकरणको भी अपने ब्रह्मसूत्रभाष्यमें परमेश्वरविषयक ही माना है ('पृष्टं चेह ब्रह्म'—देखिये ब्रह्मसूत्र अध्याय १ पा० ३ के २४ वें सूत्रका भाष्य)।

सर्वे वेदाः=सम्पूर्ण वेद; **यत् पदम्**=जिस परम पदका; **आमनन्ति**=बारम्बार प्रतिपादन करते हैं; **च**=और; **सर्वाणि तपांसि**=सम्पूर्ण तप; **यत्**=जिस पदका; **वदन्ति**=लक्ष्य कराते हैं अर्थात् वे जिसके साधन हैं; **यत् इच्छन्तः**=जिसको चाहनेवाले साधकगण; **ब्रह्मचर्यम्**=ब्रह्मचर्यका; **चरन्ति**=पालन करते हैं; **तत् पदम्**=वह पद; **ते**=तुम्हें; (मैं) **संग्रहेण**=संक्षेपसे; **ब्रवीमि**-बतलाता हूँ; (वह है) **ओम्**=ओम्; **इति**=ऐसा; **एतत्**=यह (एक अक्षर) ॥ १५ ॥

व्याख्या—यमराज यहाँ परब्रह्म पुरुषोत्तमको परमप्राप्य बतलाकर उसके वाचक ॐ कारको प्रतीकरूपसे उसका स्वरूप बतलाते हैं। वे कहते हैं कि समस्त वेद नाना प्रकार और नाना छन्दोंसे जिसका प्रतिपादन करते हैं, सम्पूर्ण तप आदि साधनोंका जो एकमात्र परम और चरम लक्ष्य है तथा जिसको प्राप्त करनेकी इच्छासे साधक निष्ठापूर्वक ब्रह्मचर्यका अनुष्ठान किया करते हैं, उस पुरुषोत्तम भगवान्का परमतत्त्व मैं तुम्हें संक्षेपमें बतलाता हूँ। वह है 'ॐ' यह एक अक्षर ॥ १५ ॥

सम्बन्ध—*नामरहित होनेपर भी परमात्मा अनेक नामोंसे पुकारे जाते हैं। उनके सब नामोंमें 'ॐ' सर्वश्रेष्ठ माना गया है। अतः यहाँ नाम और नामीका अभेद मानकर 'प्रणव' को परब्रह्म पुरुषोत्तमके स्थानमें वर्णन करते हुए यमराज कहते हैं—*

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥ १६ ॥

एतत्=यह; **अक्षरम् एव हि**=अक्षर ही तो; **ब्रह्म**=ब्रह्म है (और); **एतत्**=यह; **अक्षरम् एव हि**=अक्षर ही; **परम्**=परब्रह्म है; **हि**=इसलिये; **एतत् एव**=इसी; **अक्षरम्**=अक्षरको; **ज्ञात्वा**=जानकर; **यः**=जो; **यत्**=जिसको; **इच्छति**=चाहता है; **तस्य**=उसको; **तत्**=वही (मिल जाता है) ॥ १६ ॥

व्याख्या—यह अविनाशी प्रणव—ॐकार ही तो ब्रह्म (परमात्माका स्वरूप) है और यही परब्रह्म परमपुरुष पुरुषोत्तम है अर्थात् उस ब्रह्म और परब्रह्म दोनोंका ही नाम ॐकार है; अतः इस तत्त्वको समझकर साधक इसके

द्वारा दोनोंमेंसे किसी भी अभीष्ट रूपको प्राप्त कर सकता है॥ १६ ॥

एतदालम्बनँ् श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥ १७ ॥

एतत्=यही; **श्रेष्ठम्**=अत्युत्तम; **आलम्बनम्**=आलम्बन है; **एतत्**=यही (सबका); **परम् आलम्बनम्**=अन्तिम आश्रय है; **एतत्**=इस; **आलम्बनम्**=आलम्बनको; **ज्ञात्वा**=भलीभाँति जानकर (साधक); **ब्रह्मलोके**=ब्रह्मलोकमें; **महीयते**=महिमान्वित होता है॥ १७॥

व्याख्या—यह ॐकार ही परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिके लिये सब प्रकारके आलम्बनोंमेंसे सबसे श्रेष्ठ आलम्बन है और यही चरम आलम्बन है। इससे परे और कोई आलम्बन नहीं है अर्थात् परमात्माके श्रेष्ठ नामकी शरण हो जाना ही उनकी प्राप्तिका सर्वोत्तम एवं अमोघ साधन है। इस रहस्यको समझकर जो साधक श्रद्धा और प्रेमपूर्वक इसपर निर्भर करता है, वह निस्संदेह परमात्माकी प्राप्तिका परम गौरव लाभ करता है॥ १७॥

सम्बन्ध—*इस प्रकार ॐकारको ब्रह्म और परब्रह्म—इन दोनोंका प्रतीक बताकर अब नचिकेताके प्रश्नानुसार यमराज पहले आत्माके स्वरूपका वर्णन करते हैं—*

न जायते म्रियते वा विपश्चि-
न्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ १८॥

विपश्चित्=नित्य ज्ञानस्वरूप आत्मा; **न जायते**=न तो जन्मता है; वा **न म्रियते**=और न मरता ही है; **अयम् न**=यह न तो स्वयं; **कुतश्चित्**=किसीसे हुआ है; **[न=न]** (इससे); **कश्चित्**=कोई भी; **बभूव**=हुआ है अर्थात् यह न तो किसीका कार्य है और न कारण ही है; **अयम्**=यह; **अजः**=अजन्मा; **नित्यः**=नित्य; **शाश्वतः**=सदा एकरस रहनेवाला (और); **पुराणः**=पुरातन है अर्थात् क्षय और वृद्धिसे रहित है; **शरीरे हन्यमाने**=शरीरके नाश

****

किये जानेपर भी (इसका); **न हन्यते**=नाश नहीं किया जा सकता* ॥ १८ ॥

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुँ हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायँ हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

चेत्=यदि कोई; **हन्ता**=मारनेवाला व्यक्ति; **हन्तुम्**=अपनेको मारनेमें समर्थ; **मन्यते**=मानता है (और); **चेत्**=यदि; **हतः**=(कोई) मारा जानेवाला व्यक्ति; **हतम्**=अपनेको मारा गया; **मन्यते**=समझता है (तो); **तौ उभौ**=वे दोनों ही; **न विजानीतः**=(आत्मस्वरूपको) नहीं जानते (क्योंकि); **अयम्**=यह आत्मा; **न हन्ति**=न तो (किसीको) मारता है (और); **न हन्यते**=न मारा ही जाता है† ॥ १९ ॥

व्याख्या—यमराज यहाँ आत्माके शुद्ध स्वरूपका और उसकी नित्यताका निरूपण करते हैं; क्योंकि जबतक साधकको अपनी नित्यता और निर्विकारताका अनुभव नहीं हो जाता एवं वह जबतक अपनेको शरीर आदि अनित्य वस्तुओंसे भिन्न नहीं समझ लेता, तबतक इन अनित्य पदार्थोंसे वैराग्य होकर उसके अन्तःकरणमें नित्य तत्त्वकी अभिलाषा उत्पन्न नहीं होती। उसको

---

* गीतामें इस मन्त्रके भावको इस प्रकार समझाया गया है—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

(२।२०)

'यह आत्मा किसी भी कालमें न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है; शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता।'

† गीतामें इस मन्त्रके भावको और भी स्पष्टरूपसे व्यक्त किया गया है—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥

(२।१९)

'जो इस आत्माको मारनेवाला समझता है तथा जो इसको मारा गया मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते; क्योंकि यह आत्मा वास्तवमें न तो किसीको मारता है न किसीके द्वारा मारा जाता है।'

यह दृढ़ अनुभूति होनी चाहिये कि जीवात्मा नित्य चेतन ज्ञानस्वरूप है; अनित्य, विनाशी जड शरीर और भोगोंसे वास्तवमें इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह अनादि और अनन्त है; न तो इसका कोई कारण है और न कार्य ही; अतः यह जन्म-मरणसे सर्वथा रहित, सदा एकरस, सर्वथा निर्विकार है। शरीरके नाशसे इसका नाश नहीं होता। जो लोग इसको मारनेवाला या मरनेवाला मानते हैं, वे वस्तुतः आत्मस्वरूपको जानते ही नहीं, वे सर्वथा भ्रान्त हैं। उनकी बातोंपर ध्यान नहीं देना चाहिये। वस्तुतः आत्मा न तो किसीको मारता है और न इसे कोई मार ही सकता है।

साधकको शरीर और भोगोंकी अनित्यता और अपने आत्माकी नित्यतापर विचार करके, इन अनित्य भोगोंसे सुखकी आशाका त्याग करके सदा अपने साथ रहनेवाले नित्य सुखस्वरूप परब्रह्म पुरुषोत्तमको प्राप्त करनेका अभिलाषी बनना चाहिये॥ १८-१९॥

सम्बन्ध—*इस प्रकार आत्मतत्त्वके वर्णनद्वारा नचिकेताके अन्तःकरणमें परब्रह्म पुरुषोत्तमके तत्त्वकी जिज्ञासा उत्पन्न करके यमराज अब परमात्माके स्वरूपका वर्णन करते हैं—*

अणोरणीयान्महतो महीया-
नात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको
धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः ॥ २०॥*

अस्य=इस; **जन्तोः**=जीवात्माके; **गुहायाम्**=हृदयरूप गुफामें; **निहितः**=रहनेवाला; **आत्मा**=परमात्मा; **अणोः अणीयान्**=सूक्ष्मसे अतिसूक्ष्म (और); **महतः महीयान्**=महान्‌से भी महान् है; **आत्मनः तम् महिमानम्**=परमात्माकी उस महिमाको; **अक्रतुः**=कामनारहित (और); **वीतशोकः**=चिन्तारहित (कोई विरला साधक); **धातुप्रसादात्**=सर्वाधार परब्रह्म परमेश्वरकी कृपासे ही; **पश्यति**=देख पाता है॥ २०॥

* यह मन्त्र श्वेता० उ० (३। २०) में भी है।

व्याख्या—इससे पहले जीवात्माके शुद्ध स्वरूपका वर्णन किया गया है, उसीको इस मन्त्रमें 'जन्तु' नाम देकर उसकी बद्धावस्था व्यक्त की गयी है। भाव यह कि यद्यपि परब्रह्म पुरुषोत्तम उस जीवात्माके अत्यन्त समीप जहाँ यह स्वयं रहता है, वहीं हृदयमें छिपे हुए हैं तो भी यह उनकी ओर नहीं देखता। मोहवश भोगोंमें भूला रहता है। इसी कारण यह 'जन्तु' है—मनुष्य-शरीर पाकर भी कीट-पतङ्ग आदि तुच्छ प्राणियोंकी भाँति अपना दुर्लभ जीवन व्यर्थ नष्ट कर रहा है। जो साधक पूर्वोक्त विवेचनके अनुसार अपने-आपको नित्य चेतनस्वरूप समझकर सब प्रकारके भोगोंकी कामनासे रहित और शोकरहित हो जाता है, वह परमात्माकी कृपासे यह अनुभव करता है कि परब्रह्म पुरुषोत्तम अणुसे भी अणु और महान्से भी महान्—सर्वव्यापी हैं और इस प्रकार उनकी महिमाको समझकर उनका साक्षात्कार कर लेता है। (यहाँ '**धातुप्रसादात्**' का अर्थ 'परमेश्वरकी कृपा' किया गया है। 'धातु' शब्दका अर्थ सर्वाधार परमात्मा माना गया है। विष्णुसहस्रनाममें भी '**अनादिनिधनो धाता विधाता धातुरुत्तमः**'—'धातु' को भगवान्का एक नाम माना गया है) ॥ २० ॥

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥ २१ ॥

आसीनः=(वह परमेश्वर) बैठा हुआ ही; **दूरम् व्रजति**=दूर पहुँच जाता है; **शयानः**=सोता हुआ (भी); **सर्वतः याति**=सब ओर चलता रहता है; **तम् मदामदम् देवम्**=उस ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त न होनेवाले देवको; **मदन्यः कः**=मुझसे भिन्न दूसरा कौन; **ज्ञातुम्**=जाननेमें; **अर्हति**=समर्थ है ॥ २१ ॥

व्याख्या—परब्रह्म परमात्मा अचिन्त्यशक्ति हैं और विरुद्ध धर्मोंके आश्रय हैं। एक ही समयमें उनमें विरुद्ध धर्मोंकी लीला होती है। इसीसे वे एक ही साथ सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और महान्-से-महान् बताये गये हैं। यहाँ यह कहते हैं कि वे परमेश्वर अपने नित्य परमधाममें विराजमान रहते हुए ही

****

भक्ताधीनतावश उनकी पुकार सुनते ही दूर-से-दूर चले जाते हैं। परमधाममें निवास करनेवाले पार्षद भक्तोंकी दृष्टिमें वहाँ शयन करते हुए ही वे सब ओर चलते रहते हैं। अथवा वे परमात्मा सदा-सर्वदा सर्वत्र स्थित हैं। उनकी सर्वव्यापकता ऐसी है कि बैठे भी वही हैं, दूर देशमें चलते भी वही हैं, सोते भी वही हैं और सब ओर जाते-आते भी वही हैं। वे सर्वत्र सब रूपोंमें नित्य अपनी महिमामें स्थित हैं। इस प्रकार अलौकिक परमैश्वर्यस्वरूप होनेपर भी उन्हें अपने ऐश्वर्यका तनिक भी अभिमान नहीं है। उन परमदेवको जाननेका अधिकारी उनका कृपापात्र मेरे (आत्मतत्त्वज्ञ यमराजके सदृश अधिकारियोंके) सिवा दूसरा कौन हो सकता है॥ २१ ॥

सम्बन्ध—*अब इस प्रकार उन परमेश्वरकी महिमाको समझानेवाले पुरुषकी पहचान बताते हैं—*

अशरीरँ् शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥ २२ ॥

अनवस्थेषु=(जो) स्थिर न रहनेवाले (विनाशशील); **शरीरेषु**=शरीरोंमें; **अशरीरम्**=शरीररहित (एवं); **अवस्थितम्**=अविचलभावसे स्थित है; **महान्तम्**=(उस) महान्; **विभुम्**=सर्वव्यापी; **आत्मानम्**=परमात्माको; **मत्वा**=जानकर; **धीरः**=बुद्धिमान् महापुरुष; **न शोचति**=(कभी किसी भी कारणसे) शोक नहीं करता॥ २२ ॥

व्याख्या—प्राणियोंके शरीर अनित्य और विनाशशील हैं, इनमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। इन सबमें समभावसे स्थित परब्रह्म पुरुषोत्तम इन शरीरोंसे सर्वथा रहित, अशरीरी है। इसी कारण वे नित्य और अचल हैं। प्राकृत देश-काल-गुणादिसे अपरिच्छिन्न उन महान्, सर्वव्यापी, सबके आत्मरूप परमेश्वरको जान लेनेके बाद वह ज्ञानी महापुरुष कभी किसी भी कारणसे किञ्चिन्मात्र भी शोक नहीं करता। यही उसकी पहचान है॥ २२ ॥

सम्बन्ध—*अब यह बतलाते हैं कि वे परमात्मा अपने पुरुषार्थसे नहीं मिलते, वरं उसीको मिलते हैं, जिसको वे स्वीकार कर लेते हैं—*

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्॥ २३॥*

अयम् आत्मा=यह परब्रह्म परमात्मा; **न**=न तो; **प्रवचनेन**=प्रवचनसे; **न मेधया**=न बुद्धिसे (और); **न बहुना श्रुतेन**=न बहुत सुननेसे ही; **लभ्यः**=प्राप्त हो सकता है; **यम्**=जिसको; **एषः**=यह; **वृणुते**=स्वीकार कर लेता है; **तेन एव लभ्यः**= उसके द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है (क्योंकि); **एषः आत्मा**=यह परमात्मा; **तस्य**=उसके लिये; **स्वाम् तनूम्**=अपने यथार्थ स्वरूपको; **विवृणुते**= प्रकट कर देता है॥ २३॥

व्याख्या—जिन परमेश्वरकी महिमाका वर्णन मैं कर रहा हूँ, वे न तो उनको मिलते हैं, जो शास्त्रोंको पढ़-सुनकर लच्छेदार भाषामें परमात्मतत्त्वका नाना प्रकारसे वर्णन करते हैं, न उन तर्कशील बुद्धिमान् मनुष्योंको ही मिलते हैं, जो बुद्धिके अभिमानमें प्रमत्त हुए तर्कके द्वारा विवेचन करके उन्हें समझनेकी चेष्टा करते हैं और न उनको ही मिलते हैं, जो परमात्माके विषयमें बहुत कुछ सुनते रहते हैं। वे तो उसीको प्राप्त होते हैं, जिसको वे स्वयं स्वीकार कर लेते हैं और वे स्वीकार उसीको करते हैं, जिसको उनके लिये उत्कट इच्छा होती है। जो उनके बिना रह नहीं सकता। जो अपनी बुद्धि या साधनापर भरोसा न करके केवल उनकी कृपाकी ही प्रतीक्षा करता रहता है, ऐसे कृपा-निर्भर साधकपर परमात्मा कृपा करते हैं और योगमायाका परदा हटाकर उसके सामने अपना स्वरूप प्रकट कर देते हैं॥ २३॥

सम्बन्ध—*अब यह बतलाते हैं कि परमात्मा किसको प्राप्त नहीं होते*—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥ २४॥

---

* यह मन्त्र मुण्डकोपनिषद् (३।२।३) में भी इसी प्रकार है।

प्रज्ञानेन=सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा; **अपि**=भी; **एनम्**=इस परमात्माको; **न दुश्चरितात् अविरतः आप्नुयात्**=न तो वह मनुष्य प्राप्त कर सकता है, जो बुरे आचरणोंसे निवृत्त नहीं हुआ है; **न अशान्तः**=न वह प्राप्त कर सकता है, जो अशान्त है; **न असमाहितः**=न वह कि जिसके मन, इन्द्रियाँ संयत नहीं हैं; **वा**=और; **न अशान्तमानसः [आप्नुयात्]**=न वही प्राप्त करता है, जिसका मन शान्त नहीं है ॥ २४ ॥

व्याख्या—जो मनुष्य बुरे आचरणोंसे विरक्त होकर उनका त्याग नहीं कर देता, जिसका मन परमात्माको छोड़कर दिन-रात सांसारिक भोगोंमें भटकता रहता है, परमात्मापर विश्वास न होनेके कारण जो सदा अशान्त रहता है, जिसका मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ वशमें की हुई नहीं हैं, ऐसा मनुष्य सूक्ष्म बुद्धिद्वारा आत्मविचार करते रहनेपर भी परमात्माको नहीं पा सकता, क्योंकि वह परमात्माकी असीम कृपाका आदर नहीं करता, उसकी अवहेलना करता रहता है; अतः वह उनकी कृपाका अधिकारी नहीं होता ॥ २४ ॥

सम्बन्ध—*उस परब्रह्म परमेश्वरके तत्त्वको सुनकर और बुद्धिद्वारा विचार करके भी मनुष्य उसे क्यों नहीं जान सकता ? इस जिज्ञासापर कहते हैं*—

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः ।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥ २५ ॥

यस्य=(संहारकालमें) जिस परमेश्वरके; **ब्रह्म च क्षत्रम् च उभे**=ब्राह्मण और क्षत्रिय—ये दोनों ही अर्थात् सम्पूर्ण प्राणिमात्र; **ओदनः**=भोजन; **भवतः**=बन जाते हैं (तथा); **मृत्युः यस्य**=सबका संहार करनेवाली मृत्यु (भी) जिसका; **उपसेचनम्**=उपसेचन (भोज्य वस्तुके साथ लगाकर खानेका व्यञ्जन, तरकारी आदि); **[भवति]**=बन जाता है; **सः यत्र**=वह परमेश्वर जहाँ (और); **इत्था**=जैसा है, यह ठीक-ठीक; **कः वेद**=कौन जानता है ॥ २५ ॥

व्याख्या—मनुष्य-शरीरमें भी धर्मशील ब्राह्मण और धर्मरक्षक क्षत्रियका शरीर परमात्माकी प्राप्तिके लिये अधिक उत्तम माना गया है; किंतु

वे भी उन कालस्वरूप परमेश्वरके भोजन बन जाते हैं, फिर अन्य साधारण मनुष्य-शरीरोंकी तो बात ही क्या है। जो सबको मारनेवाले मृत्युदेव हैं, वे भी उन परमेश्वरके उपसेचन अर्थात् भोजनके साथ लगाकर खाये जानेवाले व्यञ्जन—चटनी-तरकारी आदिकी भाँति हैं। ऐसे ब्राह्मण-क्षत्रियादि समस्त प्राणियोंके और स्वयं मृत्युके संहारक अथवा आश्रयदाता परमेश्वरको भला, कोई भी मनुष्य इन अनित्य मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके द्वारा अन्य ज्ञेय वस्तुओंकी भाँति कैसे जान सकता है। किसकी सामर्थ्य है, जो सबके जाननेवालेको जान ले। अतः (पूर्वोक्त २३ वें मन्त्रके अनुसार) जिसको परमात्मा अपनी कृपाका पात्र बनाकर अपना तत्त्व समझाना चाहते हैं, वही उनको जान सकता है। अपनी शक्तिसे उन्हें कोई भी यथार्थ रूपमें नहीं जान सकता; क्योंकि वे लौकिक ज्ञेय वस्तुओंकी भाँति बुद्धिके द्वारा जाननेमें आनेवाले नहीं हैं॥ २५॥

द्वितीय वल्ली समाप्त ॥ २ ॥



तृतीय वल्ली

सम्बन्ध—*द्वितीय वल्लीमें जीवात्मा और परमात्माके स्वरूपका पृथक्-पृथक् वर्णन किया गया और उनको जानकर परब्रह्मको प्राप्त कर लेनेका फल भी बतलाया गया। संक्षेपमें यह बात भी कही गयी कि जिसको वे परमात्मा स्वीकार करते हैं, वही उन्हें जान सकता है, परंतु परमात्माको प्राप्त करनेके साधनोंका वहाँ स्पष्टरूपसे वर्णन नहीं हुआ; अतः साधनोंका वर्णन करनेके लिये तृतीय वल्लीका आरम्भ करते हुए यमराज पहले मन्त्रमें जीवात्मा और परमात्माका नित्य सम्बन्ध और निवास-स्थान बतलाते हैं—*

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके
गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति
पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥ १ ॥

सुकृतस्य लोके=शुभ कर्मोंके फलस्वरूप मनुष्य-शरीरमें; **परमे परार्धे**=परब्रह्मके उत्तम निवास-स्थान (हृदय-आकाश) में; **गुहाम् प्रविष्टौ**=बुद्धिरूप गुफामें छिपे हुए; **ऋतम् पिबन्तौ**=सत्यका पान करनेवाले (दो हैं); **छायातपौ**=(वे) छाया और धूपकी भाँति परस्पर भिन्न हैं; (यह बात) **ब्रह्मविदः**=ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी महापुरुष; **वदन्ति**=कहते हैं; **च ये**=तथा जो; **त्रिणाचिकेताः**=तीन बार नाचिकेत अग्निका चयन कर लेनेवाले; (और) **पञ्चाग्नयः**=पञ्चाग्निसम्पन्न गृहस्थ हैं; **[ते वदन्ति]**=वे भी यही बात कहते हैं॥ १ ॥

व्याख्या—यमराजने यहाँ जीवात्मा और परमात्माके नित्य सम्बन्धका परिचय देते हुए कहा कि ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी महानुभाव तथा यज्ञादि शुभकर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले आस्तिक सज्जन—सभी एक स्वरसे यही कहते हैं कि यह मनुष्य-शरीर बहुत ही दुर्लभ है। पूर्वजन्मार्जित अनेकों पुण्यकर्मोंको निमित्त बनाकर परम कृपालु परमात्मा कृपापरवश हो जीवको उसके कल्याण-सम्पादनके लिये यह श्रेष्ठ शरीर प्रदान करते हैं और फिर उस जीवात्माके साथ ही स्वयं भी उसीके हृदयके अन्तस्तलमें—परब्रह्मके निवासस्वरूप श्रेष्ठ स्थानमें अन्तर्यामीरूपसे प्रविष्ट हो रहते हैं (छा० उ० ६।३।२) इतना ही नहीं, वे दोनों साथ-ही-साथ वहाँ सत्यका पान करते हैं—शुभकर्मोंके अवश्यम्भावी सत्फलका भोग करते हैं (गीता ५।२९)। अवश्य ही दोनोंके भोगमें बड़ा अन्तर है। (परमात्मा असङ्ग और अभोक्ता हैं) उनका प्रत्येक प्राणीके हृदयमें निवास करके उसके शुभकर्मोंके फलका उपभोग करना उनकी वैसी ही लीला है, जैसी अजन्मा होकर जन्म ग्रहण करना। इसलिये यह कहा जाता है कि वे भोगते हुए भी वस्तुतः नहीं भोगते। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि परमात्मा सत्यको पिलाते हैं—शुभ-कर्मका फल भुगताते हैं और जीवात्मा पीता है—फल भोगता है। परंतु जीवात्मा फलभोगके समय असङ्ग नहीं रहता। वह अभिमानवश उसमें सुखका उपभोग करता है। इस प्रकार साथ रहनेपर भी जीवात्मा और परमात्मा

दोनों छाया और धूपकी भाँति परस्पर भिन्न हैं। जीवात्मा छायाकी भाँति अल्प प्रकाश—अल्पज्ञ है और परमात्मा धूपकी भाँति पूर्णप्रकाश—सर्वज्ञ ! परंतु जीवात्मामें जो कुछ अल्पज्ञान है, वह भी परमात्माका ही है, जैसे छायामें अल्प-प्रकाश पूर्णप्रकाशरूप धूपका ही होता है।*

इस रहस्यको समझकर मनुष्यको अपनेमें किसी प्रकारकी भी शक्ति-सामर्थ्यका अभिमान नहीं करना चाहिये और अन्तर्यामीरूपसे सदा-सर्वदा अपने हृदयमें रहनेवाले परम आत्मीय परम कृपालु परमात्माका नित्य-निरन्तर चिन्तन करते रहना चाहिये॥ १॥

सम्बन्ध—*परमात्माको जानने और प्राप्त करनेका जो सर्वोत्तम साधन 'उन्हें जानने और पानेकी शक्ति प्रदान करनेके लिये उन्हींसे प्रार्थना करना है' इस बातको यमराज स्वयं प्रार्थना करते हुए बतलाते हैं—*

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत् परम्।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतँ् शकेमहि॥ २॥

ईजानानाम्=यज्ञ करनेवालोंके लिये; **यः सेतुः**=जो दुःखसमुद्रसे पार पहुँचा देनेयोग्य सेतु है; **[तम्] नाचिकेतम्**=उस नाचिकेत अग्निको (और); **पारम् तितीर्षताम्**=संसार-समुद्रसे पार होनेकी इच्छावालोंके लिये; **यत् अभयम्**=जो भयरहित पद है; **[तत्] अक्षरम्**=उस अविनाशी; **परम् ब्रह्म**=परब्रह्म पुरुषोत्तमको; **शकेमहि**=जानने और प्राप्त करनेमें भी हम समर्थ हों॥ २॥

व्याख्या—यमराज कहते हैं कि हे परमात्मन् ! आप हमें वह सामर्थ्य दीजिये, जिससे हम निष्कामभावसे यज्ञादि शुभकर्म करनेकी विधिको भलीभाँति जान सकें और आपके आज्ञापालनार्थ उनका अनुष्ठान करके

* इस मन्त्रमें 'जीवात्मा' और 'परमात्मा'को ही गुहामें प्रविष्ट बतलाया गया है, 'बुद्धि' और 'जीव' को नहीं। 'गुहाहितत्वं तु परमात्मन एव दृश्यते' (देखिये—ब्रह्मसूत्र अध्याय १ पाद २ सू० ११ का शाङ्करभाष्य)।

आपकी प्रसन्नता प्राप्त कर सकें तथा जो संसार-समुद्रसे पार होनेकी इच्छावाले विरक्त पुरुषोंके लिये निर्भय पद है, उस परम अविनाशी आप परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान्‌को भी जानने और प्राप्त करनेके योग्य बन जायँ।

इस मन्त्रमें यमराजने परमात्मासे उन्हें जाननेकी शक्ति प्रदान करनेके लिये प्रार्थना करके यह भाव दिखलाया है कि परब्रह्म पुरुषोत्तमको जानने और प्राप्त करनेका सबसे उत्तम और सरल साधन उनसे प्रार्थना करना ही है॥ २॥

सम्बन्ध—*अब, उस परब्रह्म पुरुषोत्तमके परमधाममें किन साधनोंसे सम्पन्न मनुष्य पहुँच सकता है, यह बात रथ और रथीके रूपककी कल्पना करके समझायी जाती है—*

आत्मानꣳ रथिनं विद्धि शरीरꣳ रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥ ३॥

आत्मानम्=(हे नचिकेता! तुम) जीवात्माको तो; **रथिनम्**=रथका स्वामी (उसमें बैठकर चलनेवाला); **विद्धि**=समझो; **तु**=और; **शरीरम् एव**=शरीरको ही; **रथम्**=रथ (समझो); **तु बुद्धिम्**=तथा बुद्धिको; **सारथिम्**=सारथि (रथको चलानेवाला); **विद्धि**=समझो; **च मनः एव**=और मनको ही; **प्रग्रहम्**=लगाम (समझो)॥ ३॥

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाꣳस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥ ४॥

मनीषिणः=ज्ञानीजन (इस रूपकमें); **इन्द्रियाणि**=इन्द्रियोंको; **हयान्**=घोड़े; **आहुः**=बतलाते हैं (और); **विषयान्**=विषयोंको; **तेषु गोचरान्**=उन घोड़ोंके विचरनेका मार्ग (बतलाते हैं); **आत्मेन्द्रियमनोयुक्तम्**=(तथा) शरीर, इन्द्रिय और मन—इन सबके साथ रहनेवाला जीवात्मा ही; **भोक्ता**=भोक्ता है; **इति आहुः**=यों कहते हैं॥ ४॥

व्याख्या—जीवात्मा परमात्मासे बिछुड़ा हुआ है, अनन्त कालसे वह अनवरत संसाररूपी बीहड़ वनमें इधर-उधर सुखकी खोजमें भटक रहा है। सुख समझकर जहाँ भी जाता है, वहीं धोखा खाता है। सर्वथा साधनहीन और दयनीय है। जबतक वह परम सुखस्वरूप परमात्माके समीप नहीं पहुँच जाता,

तबतक उसे सुख-शान्ति कभी नहीं मिल सकती। उसकी इस दयनीय दशाको देखकर दयामय परमात्माने उसे मानव-शरीररूपी सुन्दर सर्वसाधनसम्पन्न रथ दिया। इन्द्रियरूप बलवान् घोड़े दिये। उनके मनरूपी लगाम लगाकर उसे बुद्धिरूपी सारथिके हाथोंमें सौंप दिया और जीवात्माको उस रथमें बैठाकर—उसका स्वामी बनाकर यह बतला दिया कि वह निरन्तर बुद्धिकी प्रेरणा करता रहे और परमात्माकी ओर ले जानेवाले भगवान्के नाम, रूप, लीला, धाम आदिके श्रवण, कीर्तन, मननादि विषयरूप प्रशस्त और सहज मार्गपर चलकर शीघ्र परमात्माके धाममें पहुँच जाय।

जीवात्मा यदि ऐसा करता तो वह शीघ्र ही परमात्मातक पहुँच जाता; परंतु वह अपने परमानन्दमय भगवत्प्राप्तिरूप इस महान् लक्ष्यको मोहवश भूल गया। उसने बुद्धिको प्रेरणा देना बंद कर दिया, जिससे बुद्धिरूपी सारथि असावधान हो गया, उसने मनरूपी लगामको इन्द्रियरूपी दुष्ट घोड़ोंकी इच्छापर छोड़ दिया। परिणाम यह हुआ कि जीवात्मा विषयप्रवण इन्द्रियोंके अधीन होकर सतत संसारचक्रमें डालनेवाले लौकिक शब्द-स्पर्शादि विषयोंमें भटकने लगा। अर्थात् वह जिन शरीर, इन्द्रिय, मनके सहयोगसे भगवान्को प्राप्त कर सकता, उन्हींके साथ युक्त होकर वह विषय-विषके उपभोगमें लग गया॥ ३-४॥

सम्बन्ध—*परमात्माकी ओर न जाकर उसकी इन्द्रियाँ लौकिक विषयोंमें क्यों लग गयीं, इसका कारण बतलाते हैं—*

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः॥ ५॥

यः सदा=जो सदा; **अविज्ञानवान्**=विवेकहीन बुद्धिवाला; **तु**=और; **अयुक्तेन**=अवशीभूत (चञ्चल); **मनसा**=मनसे (युक्त); **भवति**=रहता है; **तस्य**=उसकी; **इन्द्रियाणि**=इन्द्रियाँ; **सारथेः**=असावधान सारथिके; **दुष्टाश्वाः इव**=दुष्ट घोड़ोंकी भाँति; **अवश्यानि**=वशमें न रहनेवाली; **[भवन्ति]**=हो जाती हैं॥ ५॥

व्याख्या—रथको घोड़े ही चलाते हैं, परंतु उन घोड़ोंको चाहे जिस ओर,

चाहे जिस मार्गपर ले जाना—लगाम हाथमें थामे हुए बुद्धिमान् सारथिका काम है। इन्द्रियरूपी बलवान् और दुर्धर्ष घोड़े स्वाभाविक ही आपातरमणीय विषयोंसे भरे संसाररूप हरी-हरी घासके जंगलकी ओर मनमाना दौड़ना चाहते हैं; परंतु यदि बुद्धिरूप सारथि मनरूपी लगामको जोरसे खींचकर उन्हें अपने वशमें कर लेता है तो फिर घोड़े मनरूपी लगामके सहारे बिना चाहे जिस ओर नहीं जा सकते। यह सभी जानते हैं कि इन्द्रियाँ विषयोंका ग्रहण तभी कर सकती हैं, जब मन उनके साथ होता है। घोड़े उसी ओर दौड़ते हैं, जिस ओर लगामका सहारा होता है; पर इस लगामको ठीक रखना सारथिकी बल-बुद्धिपर निर्भर करता है। यदि बुद्धिरूपी सारथि विवेकयुक्त स्वामीका आज्ञाकारी, लक्ष्यपर सदा स्थिर, बलवान्, मार्गके ज्ञानसे सम्पन्न और इन्द्रियरूपी घोड़ोंको चलानेमें दक्ष नहीं होता तो इन्द्रियरूपी दुष्ट घोड़े उसके वशमें न रहकर लगामके सहारे सम्पूर्ण रथको ही अपने वशमें कर लेते हैं और फलस्वरूप रथी और सारथिसमेत उस रथको लिये हुए गहरे गड्ढेमें जा पड़ते हैं। बुद्धिके नियन्त्रणसे रहित इन्द्रियाँ उत्तरोत्तर उसी प्रकार उच्छृङ्खल होती चली जाती हैं जैसे असावधान सारथिके दुष्ट घोड़े॥ ५॥

सम्बन्ध—*अब स्वयं सावधान रहकर अपनी बुद्धिको विवेकशील बनानेका लाभ बतलाते हैं—*

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥ ६॥

तु यः सदा=परंतु जो सदा; **विज्ञानवान्**=विवेकयुक्त बुद्धिवाला (और); **युक्तेन**=वशमें किये हुए; **मनसा**=मनसे सम्पन्न; **भवति**=रहता है; **तस्य**=उसकी; **इन्द्रियाणि**=इन्द्रियाँ; **सारथेः**=सावधान सारथिके; **सदश्वाः इव**=अच्छे घोड़ोंकी भाँति; **वश्यानि**=वशमें; **[भवन्ति]**=रहती हैं॥ ६॥

व्याख्या—जो जीवात्मा अपनी बुद्धिको विवेकसम्पन्न बना लेता है—जिसकी बुद्धि अपने लक्ष्यकी ओर ध्यान रखती हुई नित्य-निरन्तर निपुणताके साथ इन्द्रियोंको सन्मार्गपर चलानेके लिये मनको बाध्य किये

रहती है, उसका मन भी लक्ष्यकी ओर लगा रहता है एवं उसकी इन्द्रियाँ निश्चयात्मिका बुद्धिके अधीन रहकर भगवत्सम्बन्धी पवित्र विषयोंके सेवनमें उसी प्रकार संलग्न रहती हैं, जैसे श्रेष्ठ अश्व सावधान सारथिके अधीन रहकर उसके निर्दिष्ट मार्गपर चलते रहते हैं॥ ६॥

सम्बन्ध—*पाँचवें मन्त्रके अनुसार जिसके बुद्धि और मन आदि विवेक और संयमसे हीन होते हैं, उसकी क्या गति होती है—इसे बतलाते हैं—*

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति सँसारं चाधिगच्छति ॥ ७ ॥

यः तु सदा=जो कोई सदा; **अविज्ञानवान्**=विवेकहीन बुद्धिवाला; **अमनस्कः**=असंयतचित्त (और); **अशुचिः**=अपवित्र; **भवति**=रहता है; **सः तत्पदम्**=वह उस परमपदको; **न आप्नोति**=नहीं पा सकता; **च**=अपि तु; **संसारम् अधिगच्छति**=बार-बार जन्म-मृत्युरूप संसार-चक्रमें ही भटकता रहता है॥ ७॥

व्याख्या—जिसकी बुद्धि सदा ही विवेकसे—कर्तव्याकर्तव्यके ज्ञानसे रहित और मनको वशमें रखनेमें असमर्थ रहती है, जिसका मन निग्रह-रहित—असंयत है और जिसका विचार दूषित रहता है तथा जिसकी इन्द्रियाँ निरन्तर दुराचारमें प्रवृत्त रहती हैं—ऐसे बुद्धिशक्तिसे रहित मन-इन्द्रियोंके वशमें रहनेवाले मनुष्यका जीवन कभी पवित्र नहीं रह पाता और इसलिये वह मानव-शरीरसे प्राप्त होनेयोग्य परमपदको नहीं पा सकता, वरं अपने दुष्कर्मोंके परिणामस्वरूप अनवरत इस संसार-चक्रमें ही भटकता रहता है—कूकर-शूकरादि विभिन्न योनियोंमें जन्मता एवं मरता रहता है॥ ७॥

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥ ८ ॥

तु यः सदा=परंतु जो सदा; **विज्ञानवान्**=विवेकशील बुद्धिसे युक्त; **समनस्कः**=संयतचित्त (और); **शुचिः**=पवित्र; **भवति**=रहता है; **सः तु**=वह तो; **तत्पदम्**=उस परमपदको; **आप्नोति**=प्राप्त कर लेता है; **यस्मात् भूयः**=

जहाँसे (लौटकर) पुनः; **न जायते**=जन्म नहीं लेता ॥ ८ ॥

व्याख्या—इसके विपरीत जो छठे मन्त्रके अनुसार स्वयं सावधान होकर अपनी बुद्धिको निरन्तर विवेकशील बनाये रखता है और उसके द्वारा मनको रोककर पवित्रभावमें स्थित रहता है अर्थात् इन्द्रियोंके द्वारा भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार पवित्र कर्मोंका निष्कामभावसे आचरण करता है तथा भगवान्‌को अर्पण किये हुए भोगोंका राग-द्वेषसे रहित हो निष्कामभावसे शरीर-निर्वाहके लिये उपभोग करता रहता है, वह परमेश्वरके उस परमधामको प्राप्त कर लेता है, जहाँसे फिर लौटना नहीं होता ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—*आठवें मन्त्रमें कही हुई बातको फिरसे स्पष्ट करते हुए रथके रूपकका उपसंहार करते हैं—*

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान् नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ९ ॥

यः नरः=जो (कोई) मनुष्य; **विज्ञानसारथिः तु**=विवेकशील बुद्धिरूप सारथिसे सम्पन्न (और); **मनःप्रग्रहवान्**=मनरूप लगामको वशमें रखनेवाला है; **सः**=वह; **अध्वनः**=संसारमार्गके; **पारम्**=पार पहुँचकर; **विष्णोः**=सर्वव्यापी परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान्‌के; **तत् परमम् पदम्**=उस सुप्रसिद्ध परम पदको; **आप्नोति**=प्राप्त हो जाता है ॥ ९ ॥

व्याख्या—तृतीय मन्त्रसे नवम मन्त्रतक—सात मन्त्रोंमें रथके रूपकसे यह बात समझायी गयी है कि यह अति दुर्लभ मनुष्य-शरीर जिस जीवात्माको परमात्माकी कृपासे मिल गया है, उसे शीघ्र सचेत होकर भगवत्प्राप्तिके मार्गमें लग जाना चाहिये। शरीर अनित्य है, प्रतिक्षण इसका ह्रास हो रहा है। यदि अपने जीवनके इस अमूल्य समयको पशुओंकी भाँति सांसारिक भोगोंके भोगनेमें ही नष्ट कर दिया गया तो फिर बारम्बार जन्म-मृत्युरूप संसार-चक्रमें घूमनेको बाध्य होना पड़ेगा। जिस महान् कार्यकी सिद्धिके लिये यह दुर्लभ मनुष्य-शरीर मिला था, वह पूरा नहीं होगा। अतः मनुष्यको भगवान्‌की कृपासे मिली हुई विवेकशक्तिका सदुपयोग करना चाहिये। संसारकी

अनित्यताको और इन आपातरमणीय विषय-जनित सुखोंकी यथार्थ दुःख-रूपताको समझकर इनके चिन्तन और उपभोगसे सर्वथा उपरत हो जाना चाहिये। केवल शरीरनिर्वाहके उपयुक्त कर्तव्यकर्मोंका निष्कामभावसे भगवान्‌की आज्ञा समझकर अनुष्ठान करते हुए अपनी बुद्धिमें भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम तथा उनकी अलौकिक शक्ति और अहैतुकी दयापर दृढ़ विश्वास उत्पन्न करना चाहिये और सर्वतोभावसे भगवान्‌पर ही निर्भर हो जाना चाहिये। अपने मनको भगवान्‌के तत्त्व-चिन्तनमें, वाणीको उनके गुण-वर्णनमें, नेत्रोंको उनके दर्शनमें तथा कानोंको उनके महिमा-श्रवणमें लगाना चाहिये। इस प्रकार सारी इन्द्रियोंका सम्बन्ध भगवान्‌से जोड़ देना चाहिये। जीवनका एक क्षण भी भगवान्‌की मधुर स्मृतिके बिना न बीतने पाये। इसीमें मनुष्य-जीवनकी सार्थकता है। जो ऐसा करता है, वह निश्चय ही परब्रह्म पुरुषोत्तमके अचिन्त्य परमपदको प्राप्त होकर सदाके लिये कृतकृत्य हो जाता है॥ ९॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त वर्णनमें रथके रूपककी कल्पना करके भगवत्प्राप्तिके लिये जो साधन बतलाया गया, उसमें विवेकशील बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके, इन्द्रियोंको विपरीत मार्गसे हटाकर, भगवत्प्राप्तिके मार्गमें लगानेकी बात कही गयी। इसपर यह जिज्ञासा होती है कि स्वभावसे ही दुष्ट और बलवान् इन्द्रियोंको उनके प्रिय और अभ्यस्त असत्-मार्गसे किस प्रकार हटाया जाय; अतः इस बातका तात्त्विक विवेचन करके इन्द्रियोंको असत्-मार्गसे रोककर भगवान्‌की ओर लगानेका प्रकार बतलाते हैं—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥ १०॥

हि इन्द्रियेभ्यः=क्योंकि इन्द्रियोंसे; **अर्थाः**=शब्दादि विषय; **पराः**=बलवान् हैं; **च**=और; **अर्थेभ्यः**=शब्दादि विषयोंसे; **मनः**=मन; **परम्**=पर (प्रबल) है; **तु मनसः**=और मनसे भी; **बुद्धिः**=बुद्धि; **परा**=पर (बलवती) है; **बुद्धेः**=(तथा) बुद्धिसे; **महान् आत्मा**=महान् आत्मा (उन सबका स्वामी होनेके कारण); **परः**=अत्यन्त श्रेष्ठ और बलवान् है॥ १०॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें 'पर' शब्दका प्रयोग बलवान्‌के अर्थमें हुआ है, यह बात समझ लेनी चाहिये; क्योंकि कार्य-कारणभावसे या सूक्ष्मताकी दृष्टिसे इन्द्रियोंकी अपेक्षा शब्दादि विषयोंको श्रेष्ठ बतलाना युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार 'महान्' विशेषणके सहित, 'आत्मा' शब्द भी 'जीवात्मा' का वाचक है, 'महत्तत्त्व' का नहीं। जीवात्मा इन सबका स्वामी है, अतः उसके लिये महान् विशेषण देना उचित ही है। यदि महत्तत्त्वके अर्थमें इसका प्रयोग होता तो 'आत्मा' शब्दके प्रयोगकी कोई आवश्यकता ही नहीं थी। दूसरी बात यह भी है कि बुद्धि-तत्त्व ही महत्तत्त्व है। तत्त्व-विचारकालमें इनमें भेद नहीं माना जाता। इसके सिवा आगे चलकर जहाँ निरोध-(एक तत्त्वको दूसरेमें लीन करने) का प्रसङ्ग है, वहाँ भी बुद्धिका निरोध 'महान् आत्मा' में करनेके लिये कहा गया है। इन सब कारणोंसे तथा ब्रह्मसूत्रकारको सांख्यमतानुसार महत्तत्त्व और अव्यक्त प्रकृतिरूप अर्थ स्वीकार न होनेसे भी यही मानना चाहिये कि यहाँ 'महान्' विशेषणके सहित 'आत्मा' पदका अर्थ जीवात्मा ही है।* इसलिये मन्त्रका सारांश यह है कि इन्द्रियोंसे अर्थ (विषय) बलवान् हैं। वे साधककी इन्द्रियोंको बलपूर्वक अपनी ओर आकर्षित करते रहते हैं, अतः साधकको उचित है कि इन्द्रियोंको विषयोंसे दूर रखें। विषयोंसे बलवान् मन है। यदि मनकी विषयोंमें आसक्ति न रहे तो इन्द्रियाँ और विषय—ये दोनों साधककी कुछ भी हानि नहीं कर सकते। मनसे भी बुद्धि बलवान् है, अतः बुद्धिके द्वारा विचार करके मनको राग-द्वेषरहित बनाकर अपने वशमें कर लेना चाहिये। एवं बुद्धिसे भी इन सबका स्वामी महान् 'आत्मा' बलवान् है। उसकी आज्ञा माननेके लिये ये सभी बाध्य हैं। अतः मनुष्यको आत्मशक्तिका अनुभव करके उसके द्वारा बुद्धि आदि सबको नियन्त्रणमें रखना चाहिये॥ १०॥

---

* भाष्यकार प्रातःस्मरणीय स्वामी शङ्कराचार्यजीने भी यहाँ 'महान् आत्मा'को जीवात्मा ही माना है, महत्तत्त्व नहीं (देखिये ब्रह्मसूत्र अ० १ पा० ४ सू० १ का शाङ्करभाष्य)।

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥ ११॥

महतः=उस जीवात्मासे; **परम्**=बलवती है; **अव्यक्तम्**=भगवान्‌की अव्यक्त मायाशक्ति; **अव्यक्तात्**=अव्यक्त मायासे भी; **परः**=श्रेष्ठ है; **पुरुषः**=परमपुरुष (स्वयं परमेश्वर); **पुरुषात्**=परमपुरुष भगवान्‌से; **परम्**=श्रेष्ठ और बलवान्; **किञ्चित्**=कुछ भी; **न**=नहीं है; **सा काष्ठा**=वही सबकी परम अवधि (और); **सा परा गतिः**=वही परम गति है॥ ११॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें 'अव्यक्त' शब्द भगवान्‌की उस त्रिगुणमयी दैवी मायाशक्तिके लिये प्रयुक्त हुआ है, जो गीतामें दुरत्यय (अतिदुस्तर) बतायी गयी है (गीता ७। १४) तथा जिससे मोहित हुए जीव भगवान्‌को नहीं जानते (गीता ७। १३)। यही जीवात्मा और परमात्माके बीचमें परदा है, जिसके कारण जीव सर्वव्यापी अन्तर्यामी परमेश्वरको नित्य समीप होनेपर भी नहीं देख पाता। इसे इस प्रकरणमें जीवसे भी बलवान् बतलानेका यह भाव है कि जीव अपनी शक्तिसे इस मायाको नहीं हटा सकता, भगवान्‌की शरण ग्रहण करनेपर भगवान्‌की दयाके बलसे ही वह इससे पार हो सकता है (गीता ७। १४)। यहाँ 'अव्यक्त' शब्दसे सांख्यमतावलम्बियोंका 'प्रधान तत्त्व' नहीं ग्रहण करना चाहिये; क्योंकि उनके मतमें 'प्रधान' स्वतन्त्र है, वह आत्मासे पर नहीं है; तथा आत्माको भोग और मुक्ति—दोनों वस्तुएँ देकर उसका प्रयोजन सिद्ध करनेवाला है। परंतु उपनिषद् और गीतामें इस अव्यक्त प्रकृतिको कहीं भी मुक्ति देनेमें समर्थ नहीं माना है। अतः इस मन्त्रका तात्पर्य यह है कि इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—इन सबपर आत्माका अधिकार है; अतः यह स्वयं उनको वशमें करके भगवान्‌की ओर बढ़ सकता है। परंतु इस आत्मासे भी बलवान् एक और तत्त्व है, जिसका नाम 'अव्यक्त' है। कोई उसे प्रकृति और कोई माया भी कहते हैं। इसीसे सब जीवसमुदाय मोहित होकर उसके वशमें हो रहा है। इसको हटाना जीवके अधिकारकी बात नहीं है; अतः इससे भी बलवान् जो इसके स्वामी परमपुरुष परमेश्वर हैं—जो बल, क्रिया और ज्ञान

आदि सभी शक्तियोंकी अन्तिम अवधि और परम आधार हैं —उन्हींकी शरण लेनी चाहिये। जब वे दया करके इस मायारूप परदेको स्वयं हटा लेंगे, तब उसी क्षण वहीं भगवान्‌की प्राप्ति हो जायगी; क्योंकि वे तो सदासे ही सर्वत्र विद्यमान हैं॥ ११॥

सम्बन्ध—*यही भाव अगले मन्त्रमें स्पष्ट करते हैं—*

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥ १२॥

एषः आत्मा=यह सबका आत्मरूप परमपुरुष; **सर्वेषु भूतेषु**=समस्त प्राणियोंमें रहता हुआ भी; **गूढः**=मायाके परदेमें छिपा रहनेके कारण; **न प्रकाशते**=सबके प्रत्यक्ष नहीं होता; **तु सूक्ष्मदर्शिभिः**=केवल सूक्ष्मतत्त्वोंको समझनेवाले पुरुषोंद्वारा ही; **सूक्ष्मया अग्र्यया बुद्ध्या**=अति सूक्ष्म तीक्ष्ण बुद्धिसे; **दृश्यते**=देखा जाता है॥ १२॥

व्याख्या—ये परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान् सबके अन्तर्यामी हैं, अतः सब प्राणियोंके हृदयमें विराजमान हैं, परंतु अपनी मायाके परदेमें छिपे हुए हैं, इस कारण उनके जाननेमें नहीं आते। जिन्होंने भगवान्‌का आश्रय लेकर अपनी बुद्धिको तीक्ष्ण बना लिया है, वे सूक्ष्मदर्शी ही भगवान्‌की दयासे सूक्ष्मबुद्धिके द्वारा उन्हें देख पाते हैं॥ १२॥

सम्बन्ध—*विवेकशील मनुष्यको भगवान्‌के शरण होकर किस प्रकार भगवान्‌की प्राप्तिके लिये साधन करना चाहिये?—इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥ १३॥

प्राज्ञः=बुद्धिमान् साधकको चाहिये कि; **वाक्**=(पहले) वाक् आदि (समस्त इन्द्रियों) को; **मनसी**=मनमें; **यच्छेत्**=निरुद्ध करे; **तत्**=उस मनको; **ज्ञाने आत्मनि**=ज्ञानस्वरूप बुद्धिमें; **यच्छेत्**=विलीन करे; **ज्ञानम्**=ज्ञानस्वरूप बुद्धिको; **महति आत्मनि**=महान् आत्मामें; **नियच्छेत्**=विलीन करे; (और); **तत्**=उसको; **शान्ते आत्मनि**=शान्तस्वरूप परमपुरुष परमात्मामें; **यच्छेत्**=

विलीन करे॥ १३॥

व्याख्या—बुद्धिमान् मनुष्यको उचित है कि वह पहले तो वाक् आदि इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंसे हटाकर मनमें विलीन कर दे अर्थात् इनकी ऐसी स्थिति कर दे कि इनकी कोई भी क्रिया न हो—मनमें विषयोंकी स्फुरणा न रहे। जब यह साधन भलीभाँति होने लगे, तब मनको ज्ञानस्वरूप बुद्धिमें विलीन कर दे अर्थात् एकमात्र विज्ञानस्वरूप निश्चयात्मिका बुद्धिकी वृत्तिके सिवा मनकी भिन्न सत्ता न रहे, किसी प्रकारका अन्य कोई भी चिन्तन न रहे। जब यहाँतक दृढ़ अभ्यास हो जाय, तदनन्तर उस ज्ञानस्वरूपा बुद्धिको भी जीवात्माके शुद्ध स्वरूपमें विलीन कर दे। अर्थात् ऐसी स्थितिमें स्थित हो जाय, जहाँ एकमात्र आत्मतत्त्वके सिवा—अपनेसे भिन्न किसी भी वस्तुकी सत्ता या स्मृति नहीं रह जाती। इसके पश्चात् अपने-आपको भी पूर्व निश्चयके अनुसार शान्त आत्मारूप परब्रह्म पुरुषोत्तममें विलीन कर दे॥ १३॥

सम्बन्ध—*इस प्रकार परमात्माके स्वरूपका वर्णन करके तथा उसकी प्राप्तिका महत्त्व और साधन बतलाकर अब श्रुति मनुष्योंको सावधान करती हुई कहती है—*

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥ १४॥

उत्तिष्ठत=(हे मनुष्यो!) उठो; **जाग्रत**=जागो (सावधान हो जाओ और); **वरान् प्राप्य**=श्रेष्ठ महापुरुषोंको पाकर—उनके पास जाकर (उनके द्वारा); **निबोधत**=उस परब्रह्म परमेश्वरको जान लो (क्योंकि); **कवयः**=त्रिकालज्ञ ज्ञानीजन; **तत् पथः**=उस तत्त्वज्ञानके मार्गको; **क्षुरस्य**=छूरेकी; **निशिता दुरत्यया**=तीक्ष्ण की हुई दुस्तर; **धारा [इव]**=धारके सदृश; **दुर्गम्**=दुर्गम (अत्यन्त कठिन); **वदन्ति**=बतलाते हैं॥ १४॥

व्याख्या—हे मनुष्यो! तुम जन्म-जन्मान्तरसे अज्ञाननिद्रामें सो रहे हो। अब तुम्हें परमात्माकी दयासे यह दुर्लभ मनुष्य-शरीर मिला है। इसे पाकर अब एक क्षण भी प्रमादमें मत खोओ। शीघ्र सावधान हो जाओ। श्रेष्ठ महापुरुषोंके पास जाकर उनके उपदेशद्वारा अपने कल्याणका मार्ग और

परमात्माका रहस्य समझ लो। परमात्माका तत्त्व बड़ा गहन है; उसके स्वरूपका ज्ञान, उसकी प्राप्तिका मार्ग महापुरुषोंकी सहायता और परमात्माकी कृपाके बिना वैसा ही दुस्तर है, जिस प्रकार छूरेकी तेज धारपर चलना। ऐसे दुस्तर मार्गसे सुगमतापूर्वक पार होनेका सरल उपाय वे अनुभवी महापुरुष ही बता सकते हैं, जो स्वयं इसे पार कर चुके हैं॥ १४॥

सम्बन्ध—*ब्रह्मप्राप्तिका मार्ग इतना दुस्तर क्यों है? इस जिज्ञासापर परमात्माके स्वरूपका वर्णन करते हुए उसको जाननेका फल बतलाते हैं—*

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं
तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं
निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते॥ १५॥

यत्=जो; **अशब्दम्**=शब्दरहित; **अस्पर्शम्**=स्पर्शरहित; **अरूपम्**= रूप-रहित; **अरसम्**=रसरहित; **च**=और; **अगन्धवत्**=बिना गन्धवाला है; **तथा**= तथा (जो); **अव्ययम्**=अविनाशी; **नित्यम्**=नित्य; **अनादि**=अनादि; **अनन्तम्**= अनन्त (असीम); **महतः परम्**=महान् आत्मासे श्रेष्ठ (एवं); **ध्रुवम्**=सर्वथा सत्य तत्त्व है; **तत्**=उस परमात्माको; **निचाय्य**=जानकर (मनुष्य); **मृत्युमुखात्**= मृत्युके मुखसे; **प्रमुच्यते**=सदाके लिये छूट जाता है॥ १५॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें उस परब्रह्म परमात्माको प्राकृत शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धसे रहित बतलाकर यह दिखलाया गया है कि सांसारिक विषयोंको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियोंकी वहाँ पहुँच नहीं है। वे नित्य, अविनाशी, अनादि और असीम हैं। जीवात्मासे भी श्रेष्ठ और सर्वथा सत्य हैं। उन्हें जानकर मनुष्य सदाके लिये जन्म-मरणसे छूट जाता है॥ १५॥

सम्बन्ध—*यहाँतक एक अध्यायके उपदेशको पूर्ण करके अब इस आख्यानके श्रवण और वर्णनका माहात्म्य बतलाते हैं—*

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्त्ँ सनातनम्।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते॥ १६॥

मेधावी=बुद्धिमान् मनुष्य; **मृत्युप्रोक्तम्**=यमराजके द्वारा कहे हुए; **नाचिकेतम्**=नचिकेताके; **सनातनम्**=(इस) सनातन; **उपाख्यानम्**=उपाख्यानका; **उक्त्वा**=वर्णन करके; **च**=और; **श्रुत्वा**=श्रवण करके; **ब्रह्मलोके**=ब्रह्मलोकमें; **महीयते**=महिमान्वित होता है (प्रतिष्ठित होता है) ॥ १६ ॥

व्याख्या—यह जो इस अध्यायमें नचिकेताके प्रति यमराजका उपदेश है, यह कोई नयी बात नहीं है; यह परम्परागत सनातन उपाख्यान है। बुद्धिमान् मनुष्य इसका वर्णन और श्रवण करके ब्रह्मलोकमें प्रतिष्ठावाला होता है ॥ १६ ॥

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि।
प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते।
तदानन्त्याय कल्पत इति ॥ १७ ॥

यः=जो मनुष्य; **प्रयतः**=सर्वथा शुद्ध होकर; **इमम्**=इस; **परमम् गुह्यम्**=परम गुह्य—रहस्यमय प्रसङ्गको; **ब्रह्मसंसदि**=ब्राह्मणोंकी सभामें; **श्रावयेत्**=सुनाता है; **वा**=अथवा; **श्राद्धकाले**=श्राद्धकालमें; **[श्रावयेत्]**=(भोजन करनेवालोंको) सुनाता है; **तत्**=(उसका) वह श्रवण करानारूप कर्म; **आनन्त्याय कल्पते**=अनन्त होनेमें (अविनाशी फल देनेमें) समर्थ होता है; **तत् आनन्त्याय कल्पते इति**=वह अनन्त होनेमें समर्थ होता है ॥ १७ ॥

व्याख्या—जो मनुष्य विशुद्ध होकर सावधानीसे इस परम रहस्यमय प्रसङ्गको तत्त्वविवेचनपूर्वक भगवत्प्रेमी शुद्धबुद्धि ब्राह्मणोंकी सभामें सुनाता है अथवा श्राद्धकालमें भोजन करनेवाले ब्राह्मणोंको सुनाता है, उसका वह वर्णनरूप कर्म अनन्त फल देनेवाला होता है, अनन्त होनेमें समर्थ होता है। दुबारा कहकर इस सिद्धान्तकी निश्चितता और अध्यायकी समाप्तिका लक्ष्य कराया गया है ॥ १७ ॥

॥ तृतीय वल्ली समाप्त ॥ ३ ॥

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥ १ ॥



ॐ

द्वितीय अध्याय

प्रथम वल्ली

सम्बन्ध—*तृतीय वल्लीमें यह बतलाया गया कि वे परब्रह्म परमेश्वर सम्पूर्ण प्राणियोंमें वर्तमान हैं, परंतु सबको दीखते नहीं। कोई विरला ही उन्हें सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा देख सकता है। इसपर यह प्रश्न होता है कि जब वे ब्रह्म अपने ही हृदयमें हैं तब उन्हें सभी लोग अपनी बुद्धिरूप नेत्रोंद्वारा क्यों नहीं देख लेते ? कोई विरला ही क्यों देखता है ? इसपर कहते हैं—*

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभू-
स्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥ १ ॥

स्वयंभूः=स्वयं प्रकट होनेवाले परमेश्वरने; **खानि**=समस्त इन्द्रियोंके द्वार; **पराञ्चि**=बाहरकी ओर जानेवाले ही; **व्यतृणत्**=बनाये हैं; **तस्मात्**=इसलिये (मनुष्य इन्द्रियोंके द्वारा प्रायः); **पराङ्**=बाहरकी वस्तुओंको ही; **पश्यति**=देखता है; **अन्तरात्मन्**=अन्तरात्माको; **न**=नहीं; **कश्चित् धीरः**=किसी (भाग्यशाली) बुद्धिमान् मनुष्यने ही; **अमृतत्वम्**=अमर पदको; **इच्छन्**=पानेकी इच्छा करके; **आवृत्तचक्षुः**=चक्षु आदि इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंकी ओरसे लौटाकर; **प्रत्यगात्मानम्**=अन्तरात्माको; **ऐक्षत्**=देखा है ॥ १ ॥

व्याख्या—शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध—इन्द्रियोंके ये सभी स्थूल विषय बाहर हैं। इसका यथार्थ ज्ञान करानेके लिये इन्द्रियोंकी रचना हुई है; क्योंकि इनका ज्ञान हुए बिना न तो मनुष्य किसी विषयके स्वरूप और गुणको ही जान सकता है और न उसका यथायोग्य त्याग एवं ग्रहण करके भगवान्के इन्द्रिय-

निर्माणके उद्देश्यको सिद्ध करनेके लिये उनके द्वारा नवीन शुभकर्मोंका सम्पादन ही कर सकता है। इन्द्रिय-निर्माण इसीलिये है कि मनुष्य इन्द्रियोंके द्वारा स्वास्थ्यकर, सुबुद्धिदायक, विशुद्ध विषयोंका ग्रहण करके सुखमय जीवन बिताते हुए परमात्माकी ओर अग्रसर हो। इसीलिये स्वयंभूभगवान्‌ने इन्द्रियोंका मुख बाहरकी ओर बनाया, परंतु विवेकके अभावसे अधिकांश मनुष्य इस बातको नहीं जानते और विषयासक्तिवश उन्मत्तकी भाँति आपातरमणीय परिणाममें भगवान्‌से हटाकर दुःखशोकमय नरकोंमें पहुँचानेवाले अशुद्ध विषयभोगोंमें ही रचे-पचे रहते हैं। वे अन्तर्यामी परमात्माकी ओर देखते ही नहीं। कोई विरला ही बुद्धिमान् मनुष्य ऐसा होता है जो सत्सङ्ग, स्वाध्याय तथा भगवत्कृपासे अशुद्ध विषयभोगोंकी परिणामदुःखताको जानकर अमृतस्वरूप परमात्माको प्राप्त करनेकी इच्छासे इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंसे लौटाकर, उन्हें भगवत्सम्बन्धी विषयोंमें लगाकर अन्तरात्माको—अन्तर्यामी परमात्माको देखता है ॥ १ ॥

पराचः कामाननुयन्ति बाला-
स्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा
ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥ २ ॥

[ये] बालाः=जो मूर्ख; **पराचः कामान्**=बाह्य भोगोंका; **अनुयन्ति**=अनुसरण करते हैं (उन्हींमें रचे-पचे रहते हैं); **ते**=वे; **विततस्य**=सर्वत्र फैले हुए; **मृत्योः**=मृत्युके; **पाशम्**=बन्धनमें; **यन्ति**=पड़ते हैं; **अथ**=किंतु; **धीराः**=बुद्धिमान् मनुष्य; **ध्रुवम्**=नित्य; **अमृतत्वम्**=अमरपदको; **विदित्वा**=विवेकद्वारा जानकर; **इह**=इस जगत्‌में; **अध्रुवेषु**=अनित्य भोगोंमेंसे किसीको (भी); **न प्रार्थयन्ते**=नहीं चाहते ॥ २ ॥

व्याख्या—जो बाह्य विषयोंकी चमक-दमक और आपातरमणीयताको देखकर उनमें आसक्त हुए रहते हैं और उनके पाने तथा भोगनेमें ही दुर्लभ एवं अमूल्य मनुष्य-जीवनको खो देते हैं, वे मूर्ख हैं। निश्चय ही वे

सर्वकालव्यापी मृत्युके पाशमें बँध जाते हैं, दीर्घकालतक नाना प्रकारकी योनियोंमें जन्म धारण करके बार-बार जन्मते-मरते रहते हैं, परंतु जो बुद्धिमान् हैं, वे इस विषयपर गहराईसे यों विचार करते हैं कि ये इन्द्रियोंके भोग तो जीवको दूसरी योनियोंमें भी पर्याप्त मिल सकते हैं। मनुष्य-शरीर उन सबसे विलक्षण है। इसका वास्तविक उद्देश्य विषयोपभोग कभी नहीं हो सकता। इस प्रकार विचार करनेपर जब यह बात उनकी समझमें आ जाती है कि इसका उद्देश्य अमृतस्वरूप नित्य परब्रह्म परमात्माको प्राप्त करना है और वह इसी शरीरमें प्राप्त किया जा सकता है, तब वे सर्वतोभावसे उसीकी ओर लग जाते हैं। फिर वे इस विनाशशील जगत्में क्षणभङ्गुर भोगोंको प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं करते,इनसे सर्वथा विरक्त होकर सावधानीके साथ परमार्थ-साधनमें लग जाते हैं॥ २॥

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शा्ँश्च मैथुनान्।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते॥ एतद्वै तत्॥ ३॥

येन=जिसके अनुग्रहसे (मनुष्य); **शब्दान्**=शब्दोंको; **स्पर्शान्**=स्पर्शोंको; **रूपम्**=रूप-समुदायको; **रसम्**=रस-समुदायको; **गन्धम्**=गन्ध-समुदायको; **च**=और; **मैथुनान्**=स्त्री-प्रसंग आदिके सुखोंको; **विजानाति**=अनुभव करता है; **एतेन एव**=इसीके अनुग्रहसे (यह भी जानता है कि); **अत्र किम्**=यहाँ क्या; **परिशिष्यते**=शेष रह जाता है; **एतत् वै**=यह ही है; **तत्**=वह परमात्मा (जिसके विषयमें तुमने पूछा था।)॥ ३॥

व्याख्या——शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धात्मक सब प्रकारके विषयोंका और स्त्री-सहवासादिसे होनेवाले सुखोंका मनुष्य जिस परम देवसे मिली हुई ज्ञानशक्तिके द्वारा अनुभव करता है, उन्हींकी दी हुई शक्तिसे इनकी क्षणभङ्गुरताको देखकर वह यह भी समझ सकता है कि इन सबमेंसे ऐसी कौन वस्तु है, जो यहाँ शेष रहेगी? विचार करनेपर यही समझमें आता है कि ये सभी पदार्थ प्रतिक्षण बदलनेवाले होनेसे विनाशशील हैं। इन सबके परम कारण एकमात्र परब्रह्म परमेश्वर ही नित्य हैं। वे पहले भी थे और पीछे भी रहेंगे।

अतः हे नचिकेता ! तुम्हारा पूछा हुआ वह ब्रह्मतत्त्व यही है, जो सबका शेषी है, सबका पर्यवसान है, सबकी अवधि और सबकी परम गति है ॥ ३ ॥

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ ४ ॥

स्वप्नान्तम् च=स्वप्नके दृश्योंको और; **जागरितान्तम्**=जाग्रत्-अवस्थाके दृश्योंको; **उभौ**=इन दोनों अवस्थाओंके दृश्योंको (मनुष्य); **येन**=जिससे; **अनुपश्यति**=बार-बार देखता है; **[तम्]**=उस; **महान्तम्**=सर्वश्रेष्ठ; **विभुम्**=सर्वव्यापी; **आत्मानम्**=सबके आत्माको; **मत्वा**=जानकर; **धीरः**=बुद्धिमान् मनुष्य; **न शोचति**=शोक नहीं करता ॥ ४ ॥

व्याख्या—जिस परमात्माके सहयोगसे यह जीवात्मा स्वप्नमें और जगत्‌में होनेवाली समस्त घटनाओंका बारंबार अनुभव करता रहता है, इन सबको जाननेकी शक्ति इसको जिस परब्रह्म परमेश्वरसे मिली है, जिसकी कृपासे इस जीवको उस (परमात्मा) की विज्ञानशक्तिका एक अंश प्राप्त हुआ है, उस सबकी अपेक्षा महान् सदा-सर्वदा सर्वत्र व्याप्त परब्रह्म परमात्माको जानकर धीर पुरुष कभी किसी भी कारणसे किञ्चिन्मात्र भी शोक नहीं करता ॥ ४ ॥

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥ एतद्वै तत् ॥ ५ ॥

यः=जो मनुष्य; **मध्वदम्**=कर्मफलदाता; **जीवम्***=सबको जीवन प्रदान करनेवाले; (तथा) **भूतभव्यस्य**=भूत, (वर्तमान) और भविष्यका; **ईशानम्**=शासन करनेवाले; **इमम्**=इस; **आत्मानम्**=परमात्माको; **अन्तिकात् वेद**=(अपने) समीप जानता है; **ततः [सः]**=उसके बाद वह; **न**

---

* यहाँ 'जीव' शब्द परमात्माके लिये ही प्रयुक्त हुआ है; क्योंकि भूत, भविष्य और वर्तमानका शासक जीव नहीं हो सकता। प्रकरण भी यहाँ परमात्माका है, जीवका नहीं (देखिये ब्रह्मसूत्र १।३।२४ का शाङ्करभाष्य)।

विजुगुप्सते=(कभी) किसीकी निन्दा नहीं करता; **एतत् वै**=यह ही (है); **तत्**=वह (परमात्मा, जिसके विषयमें तुमने पूछा था) ॥ ५ ॥

व्याख्या—जो साधक सबको जीवन प्रदान करनेवाले, जीवोंके परम जीवन और उन्हें उनके कर्मोंका फल भुगतानेवाले तथा भूत, वर्तमान और भावी जगत्का एकमात्र शासन करनेवाले उस परब्रह्म परमेश्वरको इस प्रकार समझ लेता है कि 'वह अन्तर्यामीरूपसे निरन्तर मेरे समीप मेरे हृदयमें ही स्थित है और इससे स्वाभाविक ही यह अनुमान कर लेता है कि इसी प्रकार वे सर्वनियन्ता परमात्मा सबके हृदयमें स्थित हैं, वह फिर उनके इस महिमामय स्वरूपको कभी नहीं भूल सकता। इसलिये वह कभी किसीकी निन्दा नहीं करता, किसीसे भी घृणा या द्वेष नहीं करता। नचिकेता! तुमने जिस ब्रह्मके विषयमें पूछा था, वह यही है, जिसका मैंने ऊपर वर्णन किया है ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—*अब यह बतलाते हैं कि ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त समस्त प्राणी उन परब्रह्म परमेश्वरसे ही उत्पन्न हुए हैं; अतः जो कुछ भी है, सब उन्हींका रूपविशेष है। उनसे भिन्न यहाँ कुछ भी नहीं है; क्योंकि इस सम्पूर्ण जगत्के अभिन्ननिमित्तोपादान कारण एकमात्र परमेश्वर ही हैं, वे एक ही अनेक रूपोंमें स्थित हैं।*

यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत् ॥ एतद्वै तत् ॥ ६ ॥

यः=जो; **अद्भ्यः**=जलसे; **पूर्वम्**=पहले; **अजायत**=हिरण्यगर्भरूपमें प्रकट हुआ था; **[तम्]**=उस; **पूर्वम्**=सबसे पहले; **तपसः जातम्**=तपसे उत्पन्न; **गुहाम् प्रविश्य**=हृदय-गुफामें प्रवेश करके; **भूतेभिः [सह]**= जीवात्माओंके साथ; **तिष्ठन्तम्**=स्थित रहनेवाले परमेश्वरको; **यः**=जो पुरुष; **व्यपश्यत्**=देखता है (वही ठीक देखता है); **एतत् वै**=यह ही है; **तत्**=वह (परमात्मा, जिसके विषयमें तुमने पूछा था) ॥ ६ ॥

व्याख्या—जो जलसे उपलक्षित पाँचों महाभूतोंसे पहले हिरण्यगर्भ ब्रह्माके रूपमें प्रकट हुए थे, उन अपने ही संकल्परूप तपसे प्रकट होनेवाले और सब जीवोंके हृदयरूप गुफामें प्रविष्ट होकर उनके साथ रहनेवाले

परमेश्वरको जो इस प्रकार जानता है कि 'सबके हृदयमें निवास करनेवाले सबके अन्तर्यामी परमेश्वर एक ही हैं, यह सम्पूर्ण जगत् उन्हींकी महिमाका प्रकाश करता है, वही यथार्थ जानता है। वे सदा सबके हृदयमें रहनेवाले ही ये तुम्हारे पूछे हुए परब्रह्म परमेश्वर हैं ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—*उन्हीं परब्रह्मका अब अदितिदेवीके रूपसे वर्णन करते हैं—*

या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं या भूतेभिर्व्यजायत ॥ एतद्वै तत् ॥ ७ ॥

या=जो; **देवतामयी**=देवतामयी; **अदितिः**=अदिति; **प्राणेन**=प्राणोंके सहित; **सम्भवति**=उत्पन्न होती है; **या**=जो; **भूतेभिः**=प्राणियोंके सहित; **व्यजायत**=उत्पन्न हुई है; (तथा जो) **गुहाम्**=हृदयरूपी गुफामें; **प्रविश्य**=प्रवेश करके; **तिष्ठन्तीम्**=वहीं रहनेवाली है उसे; (जो पुरुष देखता है वही यथार्थ देखता है,) **एतत् वै**=यही है; **तत्**=वह (परमात्मा, जिसके विषयमें तुमने पूछा था) ॥ ७ ॥

व्याख्या—जो सर्वदेवतामयी भगवती अदितिदेवी पहले-पहल उस पर-ब्रह्मके संकल्पसे सब जगत्की जीवनी शक्तिके सहित उत्पन्न होती है तथा जो सम्पूर्ण प्राणियोंको बीजरूपसे अपने साथ लेकर प्रकट हुई थी। हृदयरूपी गुहामें प्रविष्ट होकर वहीं रहनेवाली वह भगवती—भगवान्की अचिन्त्य-महाशक्ति भगवान्से सर्वथा अभिन्न है, भगवान् और उनकी शक्तिमें कोई भेद नहीं है, भगवान् ही शक्तिरूपसे सबके हृदयमें प्रवेश किये हुए हैं। हे नचिकेता! वे ही ये ब्रह्म हैं, जिनके विषयमें तुमने पूछा था।

अथवा—जननीरूपमें समस्त देवताओंका सृजन करनेवाली होनेके कारण जो सर्वदेवतामयी हैं, शब्दादि समस्त भोगसमूहका अदन—भक्षण करनेवाली होनेसे भी जिनका नाम अदिति है, जो हिरण्यगर्भरूप प्राणोंके सहित प्रकट होती हैं और समस्त भूतप्राणियोंके साथ ही जिनका प्रादुर्भाव होता है तथा जो सम्पूर्ण भूतप्राणियोंकी हृदय-गुफामें प्रविष्ट होकर वहाँ स्थित रहती हैं, वे परमेश्वरकी महाशक्ति वस्तुतः उनका प्रतीक ही हैं। स्वयं परमेश्वर

ही इस रूपमें अपनेको प्रकट करते हैं। ये ही वह ब्रह्म हैं, जिनके सम्बन्धमें नचिकेता ! तुमने पूछा था ॥ ७ ॥

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः ।
दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः* ॥
एतद्वै तत् ॥ ८ ॥

[यः]=जो; **जातवेदाः**=सर्वज्ञ; **अग्निः**=अग्निदेवता; **गर्भिणीभिः**=गर्भिणी स्त्रियोंद्वारा; **सुभृतः**=भली प्रकार धारण किये हुए; **गर्भः**=गर्भकी; **इव**=भाँति; **अरण्योः**=दो अरणियोंमें; **निहितः**=सुरक्षित है—छिपा है (तथा जो); **जागृवद्भिः**=सावधान (और); **हविष्मद्भिः**=हवन करनेयोग्य सामग्रियोंसे युक्त; **मनुष्येभिः**=मनुष्योंद्वारा, **दिवे दिवे**=प्रतिदिन; **ईड्यः**=स्तुति करनेयोग्य (है); **एतत् वै**=यही है; **तत्**=वह (परमात्मा, जिसके विषयमें तुमने पूछा था) ॥ ८ ॥

व्याख्या—जिस प्रकार गर्भिणी स्त्रीके द्वारा धारण किया हुआ शुद्ध अन्न-पानादिसे परिपुष्ट बालक गर्भमें छिपा रहता है, उसी प्रकार जो सर्वज्ञ अग्निदेवता अधर और उत्तर अरणि (ऊपर-नीचेके काष्ठखण्ड) के भीतर छिपे हुए हैं तथा अग्निविद्याके जाननेवाले, प्रयत्नशील, सावधान, श्रद्धालु, सब प्रकारकी आवश्यक सामग्रियोंसे सम्पन्न मनुष्यगण प्रतिदिन जिनकी स्तुति और आदर किया करते हैं, वे अग्निदेवता सर्वज्ञ परमेश्वरके ही प्रतीक हैं। नचिकेता ! ये ही वे तुम्हारे पूछे हुए ब्रह्म हैं ॥ ८ ॥

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति ।
तं देवाः सर्वे अर्पितास्तदु नात्येति कश्चन ॥ एतद्वै तत् ॥ ९ ॥†

यतः=जहाँसे; **सूर्यः**=सूर्यदेव; **उदेति**=उदय होते हैं; **च**=और; **यत्र**= जहाँ; **अस्तम् च**=अस्तभावको भी; **गच्छति**=प्राप्त होते हैं; **सर्वे**=सभी;

---

* यह मन्त्र ऋग्वेद (मण्डल ३ सू० २९ । २) में और सामवेद (पूर्वार्चिक खण्ड ८ । ७) में भी है।

† अथर्ववेद १० । ८ । १९ ।

देवाः=देवता; **तम्**=उसीमें; **अर्पिताः**=समर्पित हैं; **तत् उ**=उस परमेश्वरको; **कश्चन**=कोई (कभी भी); **न अत्येति**=नहीं लाँघ सकता; **एतत् वै**=यही है; **तत्**=वह (परमात्मा, जिसके विषयमें तुमने पूछा था) ॥ ९ ॥

व्याख्या—जिन परमेश्वरसे सूर्यदेव प्रकट होते हैं और जिनमें जाकर विलीन हो जाते हैं, जिनकी महिमामें ही यह सूर्यदेवताकी उदय-अस्तलीला नियमपूर्वक चलती है; उन परब्रह्ममें ही सम्पूर्ण देवता प्रविष्ट हैं—सब उन्हींमें ठहरे हुए हैं। ऐसा कोई भी नहीं है जो उन सर्वात्मक, सर्वमय, सबके आदि, अन्त आश्रयस्थल परमेश्वरकी महिमा और व्यवस्थाका उल्लङ्घन कर सके। सर्वतोभावसे सभी सर्वदा उनके अधीन और उन्हींके अनुशासनमें रहते हैं। कोई भी उनकी महिमाका पार नहीं पा सकता। वे सर्वशक्तिमान् परब्रह्म पुरुषोत्तम ही तुम्हारे पूछे हुए ब्रह्म हैं ॥ ९ ॥

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ १० ॥

यत् इह=जो परब्रह्म यहाँ (है); **तत् एव अमुत्र**=वही वहाँ (परलोकमें भी है); **यत् अमुत्र**=जो वहाँ (है); **तत् अनु इह**=वही यहाँ (इस लोकमें) भी है; **सः मृत्योः**=वह मनुष्य मृत्युसे; **मृत्युम्**=मृत्युको (अर्थात् बारंबार जन्म-मरणको); **आप्नोति**=प्राप्त होता है; **यः**=जो; **इह**=इस जगत्में; **नाना इव**=(उस परमात्माको) अनेककी भाँति; **पश्यति**=देखता है ॥ १० ॥

व्याख्या—जो सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, सर्वरूप, सबके परम कारण, परब्रह्म पुरुषोत्तम यहाँ इस पृथ्वीलोकमें हैं, वही वहाँ परलोकमें अर्थात् देव-गन्धर्वादि विभिन्न अनन्त लोकोंमें भी हैं; तथा जो वहाँ हैं, वे ही यहाँ भी हैं। एक ही परमात्मा अखिल ब्रह्माण्डमें व्याप्त हैं। जो उन एक ही परब्रह्मको लीलासे नाना नामों और रूपोंमें प्रकाशित देखकर मोहवश उनमें नानात्वकी कल्पना करता है, उसे पुनः-पुनः मृत्युके अधीन होना पड़ता है, उसके जन्म-मरणका चक्र सहज ही नहीं छूटता। अतः दृढ़तापूर्वक यही समझना चाहिये कि वे एक ही परब्रह्म परमेश्वर अपनी अचिन्त्य शक्तिके सहित नाना

रूपोंमें प्रकट हैं और यह सारा जगत् बाहर-भीतर उन एक परमात्मासे ही व्याप्त होनेके कारण उन्हींका स्वरूप है॥ १०॥

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति॥ ११॥

मनसा एव=(शुद्ध) मनसे ही; **इदम् आप्तव्यम्**=यह परमात्मतत्त्व प्राप्त किये जानेयोग्य है; **इह**=इस जगत्में (एक परमात्माके अतिरिक्त); **नाना**=नाना (भिन्न-भिन्न भाव); **किंचन**=कुछ भी; **न अस्ति**=नहीं है; (इसलिये) **यः इह**=जो इस जगत्में; **नाना इव**=नानाकी भाँति; **पश्यति**=देखता है; **सः**=वह मनुष्य; **मृत्योः**=मृत्युसे; **मृत्युम् गच्छति**=मृत्युको प्राप्त होता है अर्थात् बार-बार जन्मता-मरता रहता है॥ ११॥

व्याख्या—परमात्माका परमतत्त्व शुद्ध मनसे ही इस प्रकार जाना जा सकता है कि इस जगत्में एकमात्र पूर्णब्रह्म परमात्मा ही परिपूर्ण हैं। सब कुछ उन्हींका स्वरूप है। यहाँ परमात्मासे भिन्न कुछ भी नहीं है। जो यहाँ विभिन्नताकी झलक देखता है, वह मनुष्य मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है अर्थात् बार-बार जन्मता-मरता रहता है॥ ११॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते॥ एतद्वै तत्॥ १२॥

अङ्गुष्ठमात्रः=अङ्गुष्ठमात्र (परिमाणवाला); **पुरुषः**=परम पुरुष (परमात्मा); **आत्मनि मध्ये**=शरीरके मध्यभाग—हृदयाकाशमें; **तिष्ठति**=स्थित है; **भूतभव्यस्य**=जो कि भूत, (वर्तमान) और भविष्यका; **ईशानः**=शासन करनेवाला (है); **ततः**=उसे जान लेनेके बाद (वह); **न विजुगुप्सते**=किसीकी भी निन्दा नहीं करता; **एतत् वै**=यही है; **तत्**=वह (परमात्मा, जिसके विषयमें तुमने पूछा था)॥ १२॥

व्याख्या—यद्यपि अन्तर्यामी परमेश्वर जो कि भूत, वर्तमान और भविष्यमें होनेवाले सभी प्राणियोंके शासक हैं, समानभावसे सर्वदा सर्वत्र परिपूर्ण हैं, तथापि हृदयमें उनका विशेष स्थान माना गया है। परमेश्वर किसी

स्थूल, सूक्ष्म आकार-विशेषवाले नहीं हैं, परंतु स्थितिके अनुसार वे सभी आकारोंसे सम्पन्न हैं। क्षुद्र चींटीके हृदयदेशमें वे चींटीके हृदयपरिमाणके अनुसार परिमाणवाले हैं और विशालकाय हाथीके हृदयमें उसके हृदय-परिमाणवाले बनकर विराजित हैं। मनुष्यका हृदय अङ्गुष्ठ-परिमाणका है और मनुष्य ही परमात्माकी प्राप्तिका अधिकारी माना गया है। अतः मनुष्यका हृदय ही परब्रह्म परमेश्वरकी उपलब्धिका स्थान समझा जाता है। इसलिये यहाँ मनुष्यके हृदय-परिमाणके अनुसार परमेश्वरको अङ्गुष्ठमात्र परिमाणका कहा गया है। इस प्रकार परमेश्वरको अपने हृदयमें स्थित देखनेवाला स्वाभाविक ही यह जानता है कि इसी भाँति वे सबके हृदयमें स्थित हैं; अतएव फिर किसीकी निन्दा नहीं करता एवं न किसीसे घृणा या द्वेष ही करता है। नचिकेता ! यही वह ब्रह्म है, जिसके विषयमें तुमने पूछा था ॥ १२ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः ।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः ॥ एतद्वै तत् ॥ १३ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः=अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाला; **पुरुषः**=परमपुरुष परमात्मा; **अधूमकः**=धूमरहित; **ज्योतिः इव**=ज्योतिकी भाँति है; **भूतभव्यस्य**=भूत, (वर्तमान और) भविष्यपर; **ईशानः**=शासन करनेवाला; **सः एव अद्य**=वह परमात्मा ही आज है; **उ**=और; **सः [एव] श्वः**=वही कल भी है (अर्थात् वह नित्य सनातन है); **एतत् वै**=वही है; **तत्**=वह (परमात्मा, जिसके विषयमें तुमने पूछा था) ॥ १३ ॥

व्याख्या—मनुष्यकी हृदयगुफामें स्थित ये अङ्गुष्ठमात्र पुरुष भूत, भविष्य और वर्तमानका नियन्त्रण करनेवाले स्वतन्त्र शासक हैं। ये ज्योतिर्मय हैं। सूर्य, अग्निकी भाँति उष्ण प्रकाशवाले नहीं; परंतु दिव्य, निर्मल और शान्त प्रकाशस्वरूप हैं। लौकिक ज्योतियोंमें धूम्ररूप दोष होता है; ये धूम्ररहित दोषरहित, सर्वथा विशुद्ध ज्ञानस्वरूप हैं। अन्य ज्योतियाँ घटती-बढ़ती हैं और समयपर बुझ जाती हैं; परंतु ये जैसे आज हैं, वैसे ही कल भी हैं। इनकी एकरसता नित्य अक्षुण्ण है। ये कभी न तो घटते-बढ़ते

****

हैं और न कभी मिटते ही हैं। नचिकेता ! ये परिवर्तनरहित अविनाशी परमेश्वर ही वे ब्रह्म हैं, जिनके सम्बन्धमें तुमने पूछा था* ॥ १३ ॥

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति।
एवं धर्मान् पृथक् पश्यंस्तानेवानुविधावति ॥ १४ ॥

यथा=जिस प्रकार; **दुर्गे**=ऊँचे शिखरपर; **वृष्टम्**=बरसा हुआ; **उदकम्**=जल; **पर्वतेषु**=पहाड़के नाना स्थलोंमें; **विधावति**=चारों ओर चला जाता है; **एवम्**=उसी प्रकार; **धर्मान्**=भिन्न-भिन्न धर्मों (स्वभावों) से युक्त देव, असुर, मनुष्य आदिको; **पृथक्**=परमात्मासे पृथक्, **पश्यन्**=देखकर (उनका सेवन करनेवाला मनुष्य); **तान् एव**=उन्हींके; **अनुविधावति**=पीछे दौड़ता रहता है (उन्हींके शुभाशुभ लोकोंमें और नाना उच्च-नीच योनियोंमें भटकता रहता है) ॥ १४ ॥

व्याख्या—वर्षाका जल एक ही है; पर वह जब ऊँचे पर्वतकी ऊबड़-खाबड़ चोटीपर बरसता है तो वहाँ ठहरता नहीं, तुरंत ही नीचेकी ओर बहकर विभिन्न वर्ण, आकार और गन्धको धारण करके पर्वतमें चारों ओर बिखर जाता है। इसी प्रकार एक ही परमात्मासे उत्पन्न हुए विभिन्न स्वभाववाले देव-असुर-मनुष्यादिको जो परमात्मासे पृथक् मानता है और पृथक् मानकर ही उनकी उपासना, पूजा आदि करता है, उसे भी बिखरे हुए जलकी भाँति ही विभिन्न देव-असुरादिके लोकोंमें एवं नाना प्रकारकी योनियोंमें भटकना पड़ता है (गीता ९। २३—२५)। वह ब्रह्मको प्राप्त नहीं हो सकता ॥ १४ ॥

---

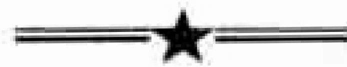
* यहाँ 'अङ्गुष्ठमात्र' शब्द परमात्माका वाचक है, जीवका नहीं। प्रातःस्मरणीय आचार्यने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है—'परमात्मैवायमङ्गुष्ठमात्रपरिमितः पुरुषो भवितुमर्हति। कस्मात्? शब्दात्—'ईशानो भूतभव्यस्य' इति। न ह्यन्यः परमेश्वराद् भूतभव्यस्य निरङ्कुशमीशिता।' अर्थात् यहा अङ्गुष्ठमात्र परिमाण पुरुष परमात्मा ही है। कैसे जाना? 'ईशानो' आदि श्रुतिसे। भूत और भव्यका निरङ्कुश नियन्ता परमेश्वरके सिवा दूसरा नहीं हो सकता (देखिये ब्रह्मसूत्र १। ३। २४) का शाङ्करभाष्य। यह बात उस प्रकारणके मूल सूत्रोंमें भी स्पष्ट है।

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥ १५॥

यथा=(परंतु) जिस प्रकार; **शुद्धे** [**उदके**]=निर्मल जलमें; **आसिक्तम्**=(मेघोंद्वारा) सब ओरसे बरसाया हुआ; **शुद्धम्**=निर्मल; **उदकम्**=जल; **तादृक् एव**=वैसा ही; **भवति**=हो जाता है; **एवम्**=उसी प्रकार; **गौतम**=हे गौतमवंशी नचिकेता; **विजानतः**=(एकमात्र परब्रह्म पुरुषोत्तम ही सब कुछ है, इस प्रकार) जाननेवाले; **मुनेः**=मुनिका (संसारसे उपरत हुए महापुरुषका); **आत्मा**=आत्मा; **भवति**=(ब्रह्मको प्राप्त) हो जाता है॥ १५॥

व्याख्या—परंतु यही वर्षाका निर्मल जल यदि निर्मल जलमें ही बरसता है तो वह उसी क्षण निर्मल जल ही हो जाता है। उसमें न तो कोई विकार उत्पन्न होता है और न वह कहीं बिखरता ही है। इसी प्रकार, हे गौतमवंशीय नचिकेता! जो इस बातको भलीभाँति जान गया है कि जो कुछ है, वह सब परब्रह्म पुरुषोत्तम ही है, उस मननशील—संसारके बाहरी स्वरूपसे उपरत पुरुषका आत्मा परब्रह्ममें मिलकर उसके साथ तादात्म्यभावको प्राप्त हो जाता है॥ १५॥

प्रथम वल्ली समाप्त॥ १॥(४)



द्वितीय वल्ली

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः।
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते॥
एतद्वै तत्॥ १॥

अवक्रचेतसः=सरल, विशुद्ध ज्ञानस्वरूप; **अजस्य**=अजन्मा परमेश्वरका; **एकादशद्वारम्**=ग्यारह द्वारोंवाला (मनुष्य-शरीररूप); **पुरम्**=पुर (नगर); [**अस्ति**]=है (इसके रहते हुए ही); **अनुष्ठाय**=(परमेश्वरका ध्यान आदि) साधन करके; **न शोचति**=(मनुष्य) कभी शोक नहीं करता; **च**=अपि तु;

विमुक्तः=जीवन्मुक्त होकर; **विमुच्यते**=(मरनेके बाद) विदेहमुक्त हो जाता है; **एतत् वै**=वही है; **तत्**=वह (परमात्मा, जिसके विषयमें तुमने पूछा था) ॥ १ ॥

व्याख्या—वह मनुष्य-शरीररूपी पुर दो आँख, दो कान, दो नासिकाके छिद्र, एक मुख, ब्रह्मरन्ध्र, नाभि, गुदा और शिश्न—इन ग्यारह द्वारोंवाला है। यह सर्वव्यापी, अविनाशी, अजन्मा, नित्य, निर्विकार, एकरस, विशुद्ध ज्ञानस्वरूप परमेश्वरकी नगरी है। वे सर्वत्र समभावसे सदासे परिपूर्ण रहते हुए भी अपनी राजधानीरूप इस मनुष्य-शरीरके हृदय-प्रासादमें राजाकी भाँति विशेषरूपसे विराजित रहते हैं। इस रहस्यको समझकर मनुष्य-शरीरके रहते हुए ही—जीते-जी जो मनुष्य भजन-स्मरणादि साधन करता है, नगरके महान् स्वामी परमेश्वरका निरन्तर चिन्तन और ध्यान करता है, वह कभी शोक नहीं करता, वह शोकके कारणरूप संसार-बन्धनसे छूटकर जीवन्मुक्त हो जाता है और शरीर छूटनेके पश्चात् विदेहमुक्त हो जाता है—परमात्माका साक्षात्कार करके जन्म-मृत्युके चक्रसे सदाके लिये छूट जाता है। यह जो सर्वव्यापक ब्रह्म है, यही वह है, जिसके सम्बन्धमें तुमने पूछा था ॥ १ ॥

सम्बन्ध—*अब उस परमेश्वरकी सर्वरूपताका स्पष्टीकरण करते हैं*—

हँ॒सः शुचिषद् वसुरन्तरिक्षस-
द्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद् वरसदृतसद् व्योमसदब्जा
गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्* ॥ २ ॥

शुचिषत्=जो विशुद्ध परमधाममें रहनेवाला; **हंसः**=स्वयंप्रकाश (पुरुषोत्तम) है (वही); **अन्तरिक्षसत्**=अन्तरिक्षमें निवास करनेवाला; **वसुः**=वसु है; **दुरोणसत्**=घरोंमें उपस्थित होनेवाला; **अतिथिः**=अतिथि है (और); **वेदिषत् होता**=यज्ञकी वेदीपर स्थापित अग्निस्वरूप तथा उसमें आहुति डालनेवाला 'होता' है (तथा); **नृषत्**=समस्त मनुष्योंमें रहनेवाला;

---

* यह मन्त्र यजुर्वेद १०।२४,१२।१४ और ऋग्वेद ४।४०।५ में है।

वरसत्=मनुष्योंसे श्रेष्ठ देवताओंमें रहनेवाला; **ऋतसत्**=सत्यमें रहनेवाला (और); **व्योमसत्**=आकाशमें रहनेवाला (है तथा); **अब्जाः**=जलोंमें नाना रूपोंसे प्रकट होनेवाला; **गोजाः**=पृथिवीमें नाना रूपोंसे प्रकट होनेवाला; **ऋतजाः**=सत्कर्मोंमें प्रकट होनेवाला (और); **अद्रिजाः**= पर्वतोंमें नाना रूपसे प्रकट होनेवाला (है); **बृहत् ऋतम्**=(वही) सबसे बड़ा परम सत्य है ॥ २ ॥

व्याख्या—जो प्राकृतिक गुणोंसे सर्वथा अतीत दिव्य विशुद्ध परमधाममें विराजित स्वयं प्रकाश परब्रह्म पुरुषोत्तम हैं, वे ही अन्तरिक्षमें विचरनेवाले वसु नामक देवता हैं, वे ही अतिथिके रूपमें गृहस्थके घरोंमें उपस्थित होते हैं; वे ही यज्ञकी वेदीपर प्रतिष्ठित ज्योतिर्मय अग्नि तथा उसमें आहुति प्रदान करनेवाले 'होता' हैं, वे ही समस्त मनुष्योंके रूपमें स्थित हैं; मनुष्योंकी अपेक्षा श्रेष्ठ देवता और पितृ आदि रूपमें स्थित, आकाशमें स्थित और सत्यमें प्रतिष्ठित हैं; वे ही जलोंमें मत्स्य, शङ्ख, शुक्ति आदिके रूपमें प्रकट होते हैं; पृथिवीमें वृक्ष, अङ्कुर, अन्न, ओषधि आदिके रूपमें, यज्ञादि सत्कर्मोंमें नाना प्रकारके यज्ञफलादिके रूपमें और पर्वतोंमें नद-नदी आदिके रूपमें प्रकट होते हैं। वे सभी दृष्टियोंसे सभीकी अपेक्षा श्रेष्ठ, महान् और परम सत्य तत्त्व हैं ॥ २ ॥

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति ।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ॥ ३ ॥

प्राणम्=(जो) प्राणको; **ऊर्ध्वम्**=ऊपरकी ओर; **उन्नयति**=उठाता है (और); **अपानम्**=अपानको; **प्रत्यक् अस्यति**=नीचे ढकेलता है; **मध्ये**= शरीरके मध्य (हृदय) में; **आसीनम्**=बैठे हुए (उस); **वामनम्**= सर्वश्रेष्ठ भजनेयोग्य परमात्माकी; **विश्वे देवाः**=सभी देवता; **उपासते**= उपासना करते हैं ॥ ३ ॥

व्याख्या—शरीरमें नियमितरूपसे अनवरत प्राण-अपानादिकी क्रिया हो रही है; इन जड पदार्थोंमें जो क्रियाशीलता आ रही है, वह उन परमात्माकी शक्ति और प्रेरणासे ही आ रही है। वे ही मानव-हृदयमें राजाकी भाँति विराजित रहकर

प्राणको ऊपरकी ओर चढ़ा रहे हैं और अपानको नीचेकी ओर ढकेल रहे हैं। इस प्रकार वे शरीरके अंदर होनेवाले सारे व्यापारोंका सुचारुरूपसे सम्पादन कर रहे हैं। उन हृदयस्थित परम भजनीय परब्रह्म पुरुषोत्तमकी सभी देवता उपासना कर रहे हैं—शरीरस्थित प्राण-मन, बुद्धि-इन्द्रियादिके सभी अधिष्ठातृदेवता उन परमेश्वरकी प्रसन्नताके लिये उन्हींकी प्रेरणाके अनुसार नित्य सावधानीके साथ समस्त कार्योंका यथाविधि सम्पादन करते रहते हैं॥ ३॥

अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः।
देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते॥ एतद्वै तत्॥ ४॥

अस्य=इस; **शरीरस्थस्य**=शरीरमें स्थित; **विस्रंसमानस्य**=एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जानेवाले; **देहिनः**=जीवात्माके; **देहात्**=शरीरसे; **विमुच्यमानस्य**=निकल जानेपर; **अत्र**=यहाँ (इस शरीरमें) **किम् परिशिष्यते**=क्या शेष रहता है; **एतत् वै**=यही है; **तत्**=वह (परमात्मा, जिसके विषयमें तुमने पूछा था)॥ ४॥

व्याख्या—यह एक शरीरसे दूसरे शरीरमें गमन करनेके स्वभाववाला देही (जीवात्मा) जब इस वर्तमान शरीरसे निकलकर चला जाता है और उसके साथ ही जब इन्द्रिय, प्राण आदि भी चले जाते हैं, तब इस मृत-शरीरमें क्या बच रहता है। देखनेमें तो कुछ भी नहीं रहता; पर वह परब्रह्म परमेश्वर, जो सदा-सर्वदा समानभावसे सर्वत्र परिपूर्ण है, जो चेतन जीव तथा जड प्रकृति—सभीमें सदा व्याप्त है, वह रह जाता है। यही वह ब्रह्म है, जिसके सम्बन्धमें तुमने पूछा था॥ ४॥

सम्बन्ध—*अब निम्नाङ्कित दो मन्त्रोंमें यमराज नचिकेताके पूछे हुए तत्त्वको पुनः दूसरे प्रकारसे वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—*

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ॥ ५॥
हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम॥ ६॥

कश्चन=कोई भी; **मर्त्यः**=मरणधर्मा प्राणी; **न प्राणेन**=न तो प्राणसे (जीता है और); **न अपानेन**=न अपानसे (ही); **जीवति**=जीता है; **तु**=किंतु; **यस्मिन्**=जिसमें; **एतौ उपाश्रितौ**=(प्राण और अपान) ये दोनों आश्रय पाये हुए हैं; **इतरेण**=(ऐसे किसी) दूसरेसे ही; **जीवन्ति**=(सब) जीते हैं; **गौतम**=हे गौतमवंशीय; **गुह्यम् सनातनम्**=(वह) रहस्यमय सनातन; **ब्रह्म**=ब्रह्म (जैसा है); **च**=और; **आत्मा**=जीवात्मा; **मरणम् प्राप्य**=मरकर; **यथा**=जिस प्रकारसे; **भवति**=रहता है; **इदम् ते**=यह बात तुम्हें; **हन्त प्रवक्ष्यामि**=मैं अब फिरसे बतलाऊँगा ॥ ५-६ ॥

व्याख्या—यमराज कहते हैं—नचिकेता ! एक दिन निश्चय ही मृत्युके मुखमें जानेवाले ये मनुष्यादि प्राणी न तो प्राणकी शक्तिसे जीवित रहते हैं और न अपानकी शक्तिसे ही। इन्हें जीवित रखनेवाला तो कोई दूसरा ही चेतन तत्त्व है और वह है जीवात्मा। ये प्राण-अपान दोनों उस जीवात्माके ही आश्रित हैं। जीवात्माके बिना एक क्षण भी ये नहीं रह सकते; जब जीवात्मा जाता है, तब केवल ये ही नहीं, इन्हींके साथ इन्द्रियादि सभी उसका अनुसरण करते हुए चले जाते हैं। (गीता १५। ८,९) अब मैं तुमको यह बतलाऊँगा कि मनुष्यके मरनेके बाद इस जीवात्माका क्या होता है, यह कहाँ जाता है तथा किस प्रकार रहता है और साथ ही यह भी बतलाऊँगा कि उस परम रहस्यमय सर्वव्यापी सर्वाधार सर्वाधिपति परब्रह्म परमेश्वरका क्या स्वरूप है ॥ ५-६ ॥

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥ ७ ॥

यथाकर्म=जिसका जैसा कर्म होता है; **यथाश्रुतम्**=और शास्त्रादिके श्रवणद्वारा जिसको जैसा भाव प्राप्त हुआ है (उन्हींके अनुसार); **शरीरत्वाय**=शरीर धारण करनेके लिये; **अन्ये**=कितने ही; **देहिनः**=जीवात्मा तो; **योनिम्**=(नाना प्रकारकी जङ्गम) योनियोंको; **प्रपद्यन्ते**=प्राप्त हो जाते हैं (और); **अन्ये**=दूसरे (कितने ही); **स्थाणुम्**=स्थाणु (स्थावर) भावका; **अनुसंयन्ति**=अनुसरण करते हैं ॥ ७ ॥

व्याख्या—यमराज कहते हैं कि अपने-अपने शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार और शास्त्र, गुरु, सङ्ग, शिक्षा, व्यवसाय आदिके द्वारा देखे-सुने हुए भावोंसे निर्मित अन्तःकालीन वासनाके अनुसार मरनेके पश्चात् कितने ही जीवात्मा तो दूसरा शरीर धारण करनेके लिये वीर्यके साथ माताकी योनिमें प्रवेश कर जाते हैं। इनमें जिनके पुण्य-पाप समान होते हैं, वे मनुष्यका और जिनके पुण्य कम तथा पाप अधिक होते हैं, वे पशु-पक्षीका शरीर धारण करके उत्पन्न होते हैं और कितने ही, जिनके पाप अत्यधिक होते हैं, स्थावरभावको प्राप्त होते हैं अर्थात् वृक्ष, लता, तृण, पर्वत आदि जड शरीरमें उत्पन्न होते हैं॥ ७ ॥

सम्बन्ध—*यमराजने जीवात्माकी गति और परमात्माका स्वरूप—इन दो बातोंको बतलानेकी प्रतिज्ञा की थी; इनमें मरनेके बाद जीवात्माकी क्या गति होती है, इसको बतलाकर अब वे दूसरी बात बतलाते हैं—*

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ॥
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ।
एतद् वै तत् ॥ ८ ॥

यः एषः=जो यह; **कामम् कामम्**=(जीवोंके कर्मानुसार) नाना प्रकारके भोगोंका; **निर्मिमाणः**=निर्माण करनेवाला; **पुरुषः**=परमपुरुष परमेश्वर; **सुप्तेषु**=(प्रलयकालमें सबके) सो जानेपर भी; **जागर्ति**=जागता रहता है; **तत् एव**=वही; **शुक्रम्**=परम विशुद्ध तत्त्व है; **तत् ब्रह्म**=वही ब्रह्म है; **तत् एव**=वही; **अमृतम्**=अमृत; **उच्यते**=कहलाता है; (तथा) **तस्मिन्**=उसीमें; **सर्वे**=सम्पूर्ण; **लोकाः श्रिताः**=लोक आश्रय पाये हुए हैं; **तत् कश्चन उ**=उसे कोई भी; **न अत्येति**=अतिक्रमण नहीं कर सकता; **एतत् वै**=यही है; **तत्**=वह (परमात्मा, जिसके विषयमें तुमने पूछा था) ॥ ८ ॥

व्याख्या—जीवात्माओंके कर्मानुसार उनके लिये नाना प्रकारके भोगोंका निर्माण करनेवाला तथा उनकी यथायोग्य व्यवस्था करनेवाला जो यह परमपुरुष परमेश्वर समस्त जीवोंके सो जानेपर अर्थात् प्रलयकालमें सबका

ज्ञान लुप्त हो जानेपर भी अपनी महिमामें नित्य जागता रहता है, जो स्वयं ज्ञानस्वरूप है, जिसका ज्ञान सदैव एकरस रहता है, कभी अधिक, न्यून या लुप्त नहीं होता, वही परम विशुद्ध दिव्य तत्त्व है, वही परब्रह्म है; उसीको ज्ञानी महापुरुषोंके द्वारा प्राप्य परम अमृतस्वरूप परमानन्द कहा जाता है। ये सम्पूर्ण लोक उसीके आश्रित हैं। उसे कोई भी नहीं लाँघ सकता—कोई भी उसके नियमोंका अतिक्रमण नहीं कर सकता। सभी सदा सर्वदा एकमात्र उसीके शासनमें रहनेवाले और उसीके अधीन हैं। कोई भी उसकी महिमाका पार नहीं पा सकता। यही है वह ब्रह्म-तत्त्व जिसके विषयमें तुमने पूछा था ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—*अब अग्निके दृष्टान्तसे उस परब्रह्म परमेश्वरकी व्यापकता और निर्लेपताका वर्णन करते हैं—*

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ ९ ॥

यथा=जिस प्रकार; **भुवनम्**=समस्त ब्रह्माण्डमें; **प्रविष्टः**=प्रविष्ट; **एकः अग्निः**=एक ही अग्नि; **रूपम् रूपम्**=नाना रूपोंमें; **प्रतिरूपः**=उनके समान रूपवाला-सा; **बभूव**=हो रहा है; **तथा**=वैसे (ही); **सर्वभूतान्तरात्मा**=समस्त प्राणियोंका अन्तरात्मा परब्रह्म; **एकः [सन् अपि]** =एक होते हुए भी; **रूपम् रूपम्**=नाना रूपोंमें; **प्रतिरूपः**=उन्हींके-जैसे रूपवाला (हो रहा है); **च बहिः**=और उनके बाहर भी है ॥ ९ ॥

व्याख्या—एक ही अग्नि निराकाररूपसे सारे ब्रह्माण्डमें व्याप्त है, उसमें कोई भेद नहीं है, परंतु जब वह साकाररूपसे प्रज्वलित होता है, तब उन आधारभूत वस्तुओंका जैसा आकार होता है, वैसा ही आकार अग्निका भी दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार समस्त प्राणियोंके अन्तर्यामी परमेश्वर एक हैं और सबमें समभावसे व्याप्त हैं, उनमें किसी प्रकारका कोई भेद नहीं है, तथापि वे भिन्न-भिन्न प्राणियोंमें उन-उन प्राणियोंके अनुरूप नाना रूपोंमें प्रकाशित होते हैं। भाव यह कि आधारभूत वस्तुके अनुरूप ही

उनकी महिमाका प्राकट्य होता है। वास्तवमें उन परमेश्वरकी महत्ता इतनी ही नहीं है, इससे बहुत अधिक विलक्षण है। उनकी अनन्त शक्तिके एक क्षुद्रतम अंशसे ही यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड नाना प्रकारकी आश्चर्यमय शक्तियोंसे सम्पन्न हो रहा है ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—*वही बात वायुके दृष्टान्तसे कहते हैं—*

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ १० ॥

यथा=जिस प्रकार; **भुवनम्**=समस्त ब्रह्माण्डमें; **प्रविष्टः**=प्रविष्ट; **एकः वायुः**=एक (ही) वायु; **रूपम् रूपम्**=नाना रूपोंमें; **प्रतिरूपः**=उनके समान रूपवाला-सा; **बभूव**=हो रहा है; **तथा**=वैसे (ही); **सर्वभूतान्तरात्मा**=सब प्राणियोंका अन्तरात्मा परब्रह्म; **एकः [सन् अपि]**=एक होते हुए भी; **रूपम् रूपम्**=नाना रूपोंमें; **प्रतिरूपः**=उन्हींके जैसे रूपवाला (हो रहा है); **च बहिः**=और उनके बाहर भी है ॥ १० ॥

व्याख्या—एक ही वायु अव्यक्तरूपसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें व्याप्त है, तथापि व्यक्तमें भिन्न-भिन्न वस्तुओंके संयोगसे उन-उन वस्तुओंके अनुरूप गति और शक्तिवाला दिखायी देता है। उसी प्रकार समस्त प्राणियोंका अन्तर्यामी परमेश्वर एक होते हुए भी उन-उन प्राणियोंके सम्बन्धसे पृथक्-पृथक् शक्ति और गतिवाला दीखता है, किंतु वह उतना ही नहीं है, उन सबके बाहर भी अनन्त—असीम एवं विलक्षण रूपसे स्थित है (नवम मन्त्रकी व्याख्याके अनुसार इसे भी समझ लेना चाहिये) ॥ १० ॥

सम्बन्ध—*इस मन्त्रमें सूर्यके दृष्टान्तसे परमात्माकी निर्लेपता दिखलाते हैं—*

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षु-
र्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥ ११ ॥

यथा=जिस प्रकार; **सर्वलोकस्य**=समस्त ब्रह्माण्डका; **चक्षुः सूर्यः**=प्रकाशक सूर्य देवता; **चाक्षुषैः**=(लोगोंकी) आँखोंसे होनेवाले; **बाह्यदोषैः**=बाहरके दोषोंसे; **न लिप्यते**=लिप्त नहीं होता; **तथा**=उसी प्रकार; **सर्वभूतान्तरात्मा**=सब प्राणियोंका अन्तरात्मा; **एकः**=एक परब्रह्म परमात्मा; **लोकदुःखेन**=लोगोंके दुःखोंसे; **न लिप्यते**=लिप्त नहीं होता; [**यतः**]=क्योंकि; **बाह्यः**=सबमें रहता हुआ भी वह सबसे अलग है ॥ ११ ॥

व्याख्या—एक ही सूर्य सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको प्रकाशित करता है। उसका प्रकाश प्राणिमात्रकी आँखोंका सहायक है। उस प्रकाशकी ही सहायता लेकर लोग नाना प्रकारके गुणदोषमय कर्म करते हैं, परंतु सूर्य उनके नेत्रोंद्वारा किये जानेवाले नाना प्रकारके बाह्य कर्मरूप दोषोंसे तनिक भी लिप्त नहीं होता। इसी प्रकार सबके अन्तर्यामी भगवान् परब्रह्म पुरुषोत्तम एक हैं, उन्हींकी शक्तिसे शक्तियुक्त होकर मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा मनुष्य नाना प्रकारके शुभाशुभ कर्म करते हैं तथा उनका फलरूप सुख-दुःखादि भोगते हैं। परंतु वे परमेश्वर उनके कर्म और दुःखोंसे लिप्त नहीं होते, क्योंकि वे सबमें रहते हुए भी सबसे पृथक् और सर्वथा असङ्ग हैं (गीता १३। ३१) ॥ ११ ॥

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ १२ ॥*

यः=जो; **सर्वभूतान्तरात्मा**=सब प्राणियोंका अन्तर्यामी; **एकः वशी**=अद्वितीय एवं सबको वशमें रखनेवाला (परमात्मा); **एकम् रूपम्**=(अपने) एक ही रूपको; **बहुधा**=बहुत प्रकारसे; **करोति**=बना लेता है, **तम् आत्मस्थम्**=उस अपने अंदर रहनेवाले (परमात्मा) को; **ये धीराः**=जो ज्ञानी पुरुष; **अनुपश्यन्ति**=निरन्तर देखते रहते हैं; **तेषाम्**=उन्हींको; **शाश्वतम्**

* यह मन्त्र श्वेताश्वतरोपनिषद् ६। १२ से मिलता-जुलता है।

सुखम्=सदा अटल रहनेवाला परमानन्दस्वरूप वास्तविक सुख (मिलता है); **इतरेषाम् न**=दूसरोंको नहीं ॥ १२ ॥

व्याख्या—जो परमात्मा सदा सबके अन्तरात्मारूपसे स्थित हैं, जो अद्वितीय और सर्वथा स्वतन्त्र हैं, सम्पूर्ण जगत्‌में देव-मनुष्यादि सभीको सदा अपने वशमें रखते हैं, वे ही सर्वशक्तिमान् सर्वभवनसमर्थ परमेश्वर अपने एक ही रूपको अपनी लीलासे बहुत प्रकारका बना लेते हैं। उन परमात्माको जो ज्ञानी महापुरुष निरन्तर अपने अंदर स्थित देखते हैं, उन्हींको सदा स्थिर रहनेवाला—सनातन परमानन्द मिलता है, दूसरोंको नहीं ॥ १२ ॥

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्* ॥ १३ ॥

यः=जो; **नित्यानाम्**=नित्योंका (भी); **नित्यः**=नित्य (है); **चेतनानाम्**=चेतनोंका (भी); **चेतनः**=चेतन है (और); **एकः बहूनाम्**=अकेला ही इन अनेक (जीवों) के; **कामान्**=कर्मफलभोगोंका; **विदधाति**=विधान करता है; **तम् आत्मस्थम्**=उस अपने अंदर रहनेवाले (पुरुषोत्तम) को; **ये धीराः**=जो ज्ञानी; **अनुपश्यन्ति**=निरन्तर देखते रहते हैं; **तेषाम्**=उन्हींको; **शाश्वती शान्तिः**=सदा अटल रहनेवाली शान्ति (प्राप्त होती है); **इतरेषाम् न**= दूसरोंको नहीं ॥ १३ ॥

व्याख्या—जो समस्त नित्य चेतन आत्माओंके भी नित्य चेतन आत्मा हैं और जो स्वयं अकेले ही अनन्त जीवोंके भोगोंका उन-उनके कर्मानुसार विधान करते हैं, उन अपने अंदर रहनेवाले सर्वशक्तिमान् परब्रह्म पुरुषोत्तमको

---

* इसका पूर्वार्ध श्वेताश्वतरोपनिषद् ६। १३ में ठीक इसी प्रकार है और उत्तरार्ध ६। १२ से मिलता है।

****

जो ज्ञानी महापुरुष निरन्तर देखते हैं, उन्हींको सदा स्थिर रहनेवाली सनातनी परम शान्ति मिलती है, दूसरोंको नहीं ॥ १३ ॥

सम्बन्ध—*जिज्ञासु नचिकेता इस प्रकार उस ब्रह्मप्राप्तिके आनन्द और शान्तिकी महिमा सुनकर मन-ही-मन विचार करने लगा—*

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम्।
कथं नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा ॥ १४ ॥

तत्=वह; **अनिर्देश्यम्**=अनिर्वचनीय; **परमम्**=परम; **सुखम्**=सुख; **एतत्**=यह (परमात्मा ही है); **इति**=यों; **मन्यन्ते**=(ज्ञानीजन) मानते हैं; **तत्**=उसको; **कथम् नु**=किस प्रकारसे; **विजानीयाम्**=मैं भलीभाँति समझूँ; **किमु**=क्या (वह); **भाति**=प्रकाशित होता है; **वा**=या; **विभाति**=अनुभवमें आता है ॥ १४ ॥

व्याख्या—उस सनातन परम आनन्द और परम शान्तिको प्राप्त ज्ञानी महात्माजन ऐसा मानते हैं कि परब्रह्म पुरुषोत्तम ही वह अलौकिक सर्वोपरि आनन्द है, जिसका निर्देश मन-वाणीसे नहीं किया जा सकता। उस परमानन्दस्वरूप परमेश्वरको मैं अपरोक्षरूपसे किस प्रकार जानूँ ? क्या वह प्रत्यक्ष प्रकट होता है या अनुभवमें आता है ? उसका ज्ञान किस प्रकारसे होता है ? ॥ १४ ॥

सम्बन्ध—*नचिकेताके आन्तरिक भावको समझकर यमराजने कहा—*

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ १५ ॥*

तत्र=वहाँ; **न सूर्यः भाति**=न (तो) सूर्य प्रकाशित होता है; **न चन्द्रतारकम्**=न चन्द्रमा और तारोंका समुदाय (ही प्रकाशित होता है); **न**

---

* यह मन्त्र ठीक इसी प्रकार मु० उ० २ । २ । १० और श्वेता० उ० ६ । १४ में है।

इमाः विद्युतः भान्ति=(और) न ये बिजलियाँ ही (वहाँ) प्रकाशित होती हैं; **अयम् अग्निः कुतः**=फिर यह (लौकिक) अग्नि कैसे (प्रकाशित हो सकता है क्योंकि); **तम्**=उसके; **भान्तम् एव**=प्रकाशित होनेपर ही (उसीके प्रकाशसे); **सर्वम्**= (ऊपर बतलाये हुए सूर्यादि) सब; **अनुभाति**= प्रकाशित होते हैं; **तस्य भासा**=उसीके प्रकाशसे; **इदम् सर्वम्**=यह सम्पूर्ण जगत्; **विभाति**=प्रकाशित होता है ॥ १५ ॥

व्याख्या—उस स्वप्रकाश परमानन्दस्वरूप परब्रह्म परमेश्वरके समीप यह सूर्य नहीं प्रकाशित होता। जिस प्रकार सूर्यका प्रकाश प्रकट होनेपर खद्योतका प्रकाश लुप्त हो जाता है, वैसे ही सूर्यका तेज भी उस असीम तेजके सामने लुप्त हो जाता है। चन्द्रमा, तारागण और बिजली भी वहाँ नहीं चमकते; फिर इस लौकिक अग्निकी तो बात ही क्या है; क्योंकि प्राकृत जगत्में जो कुछ भी तत्त्व प्रकाशशील हैं, सब उस परब्रह्म परमेश्वरकी प्रकाशशक्तिके अंशको पाकर ही प्रकाशित हैं। वे अपने प्रकाशकके समीप अपना प्रकाश कैसे फैला सकते हैं। सारांश यह कि यह सम्पूर्ण जगत् उस जगदात्मा पुरुषोत्तमके प्रकाशसे अथवा उस प्रकाशके एक क्षुद्रतम अंशसे प्रकाशित हो रहा है ॥ १५ ॥

द्वितीय वल्ली समाप्त ॥ २ ॥ (५)



तृतीय वल्ली

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ॥
एतद्वै तत् ॥ १ ॥

ऊर्ध्वमूलः=ऊपरकी ओर मूलवाला; **अवाक्शाखः**=नीचेकी ओर

शाखावाला; **एषः**=यह (प्रत्यक्ष जगत्); **सनातनः अश्वत्थः**=सनातन पीपलका वृक्ष है; **[तन्मूलम्]**=इसका मूलभूत; **तत् एव शुक्रम्**=वह (परमेश्वर) ही विशुद्ध तत्त्व है; **तत् ब्रह्म**=वही ब्रह्म है (और); **तत् एव**=वही; **अमृतम् उच्यते**=अमृत कहलाता है; **सर्वे लोकाः**=सब लोक; **तस्मिन्**=उसीके; **श्रिताः**=आश्रित हैं; **कश्चन उ**=कोई भी; **तत्**=उसको; **न अत्येति**=लाँघ नहीं सकता; **एतत् वै**=यही है; **तत्**=वह (परमात्मा जिसके विषयमें तुमने पूछा था) * ॥ १ ॥

व्याख्या—जिसका मूलभूत परब्रह्म पुरुषोत्तम ऊपर है अर्थात् सर्वश्रेष्ठ, सबसे सूक्ष्म और सर्वशक्तिमान् है और जिसकी प्रधान शाखा ब्रह्मा तथा अवान्तर शाखाएँ देव, पितर, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि क्रमसे नीचे हैं, ऐसा यह ब्रह्माण्डरूप पीपल-वृक्ष अनादिकालीन—सदासे है। कभी प्रकटरूपसे और कभी अप्रकटरूपसे अपने कारणरूप परब्रह्ममें नित्य स्थित रहता है, अतः सनातन है। इसका जो मूल कारण है, जिससे यह उत्पन्न होता है, जिससे सुरक्षित है और जिसमें विलीन होता है, वही विशुद्ध दिव्य तत्त्व है, वही ब्रह्म है, उसीको अमृत कहते हैं तथा सब लोक उसीके आश्रित हैं। कोई भी उसका अतिक्रमण करनेमें समर्थ नहीं है। नचिकेता ! यही है वह तत्त्व, जिसके सम्बन्धमें तुमने पूछा था॥ १ ॥

यदिदं किं च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥ २ ॥

निःसृतम्=(परब्रह्म परमेश्वरसे) निकला हुआ; **इदम् यत् किं च**=यह जो कुछ भी; **सर्वम् जगत्**=सम्पूर्ण जगत् है; **प्राणे एजति**=उस प्राणस्वरूप परमेश्वरमें ही चेष्टा करता है; **एतत्**=इस; **उद्यतम् वज्रम्**=उठे हुए वज्रके समान; **महत् भयम्**=महान् भयस्वरूप (सर्वशक्तिमान्) परमेश्वरको; **ये विदुः**=जो जानते हैं; **ते**=वे; **अमृताः भवन्ति**=अमर हो जाते हैं अर्थात् जन्म-मरणसे छूट जाते हैं॥ २ ॥

---

* इस मन्त्रके प्रथम दो पादोंको छोड़कर शेष चारों पाद २। २। ८ के ही समान हैं।

व्याख्या—यह जो कुछ भी इन्द्रिय, मन और बुद्धिके द्वारा देखने, सुनने और समझनेमें आनेवाला सम्पूर्ण चराचर जगत् है, सब अपने परम कारण-रूप जिन परब्रह्म पुरुषोत्तमसे प्रकट हुआ है, उन्हीं प्राणस्वरूप परमेश्वरमें चेष्टा करता है। अर्थात् इसकी चेष्टाओंके आधार एवं नियामक भी वे परमेश्वर ही हैं। वे परमेश्वर परम दयालु होते हुए भी महान् भयरूप हैं— छोटे-बड़े सभी उनसे भय मानते हैं। साथ ही वे उठे हुए वज्रके समान हैं। जिस प्रकार हाथमें वज्र लिये हुए प्रभुको देखकर सभी सेवक यथाविधि निरन्तर आज्ञापालनमें तत्पर रहते हैं, उसी प्रकार समस्त देवता सदा-सर्वदा नियमानुसार इन परमेश्वरके आज्ञापालनमें नियुक्त रहते हैं। इन परब्रह्मको जो जानते हैं, वे तत्त्वज्ञ पुरुष अमर हो जाते हैं—जन्म-मृत्युके चक्रसे छूट जाते हैं॥ २॥

भयादस्याग्निस्तपति भयात् तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥ ३॥*

अस्य भयात्=इसीके भयसे; **अग्निः तपति**=अग्नि तपता है; **भयात्**= (इसीके) भयसे; **सूर्यः तपति**=सूर्य तपता है; **च**=तथा; **[अस्य] भयात्**= इसीके भयसे; **इन्द्रः वायुः**=इन्द्र, वायु; **च**=और; **पञ्चमः मृत्युः**=पाँचवें मृत्यु देवता; **धावति**=(अपने-अपने-काममें) प्रवृत्त हो रहे हैं॥ ३॥

व्याख्या—सबपर शासन करनेवाले और सबको नियन्त्रणमें रखकर नियमानुसार चलानेवाले इन परमेश्वरके भयसे ही अग्नि तपता है, इन्हींके भयसे सूर्य तप रहा है, इन्हींके भयसे इन्द्र, वायु और पाँचवें मृत्यु देवता— ये सब दौड़-दौड़कर जल आदि बरसाना, प्राणियोंको जीवन-शक्ति प्रदान करना, जीवोंके शरीरोंका अन्त करना आदि अपना-अपना काम सावधानी-पूर्वक कर रहे हैं। सारांश यह कि इस जगत्में देवसमुदायके द्वारा सारे कार्य जो नियमितरूपसे सम्पन्न हो रहे हैं, वे इन सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर, सबके शासक एवं नियन्ता परमेश्वरके अमोघ शासनसे ही हो रहे हैं॥ ३॥

---

* इस भावका मन्त्र तै० उ० २। ८ के आरम्भमें आया है।

इह चेदशकद् बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः ।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥ ४ ॥

चेत्=यदि; **शरीरस्य**=शरीरका; **विस्रसः**=पतन होनेसे; **प्राक्**=पहले-पहले; **इह**=इस मनुष्यशरीरमें ही (साधक); **बोद्धुम्**=परमात्माको साक्षात्; **अशकत्**=कर सका (तब तो ठीक है); **ततः**=नहीं तो फिर; **सर्गेषु**=अनेक कल्पोंतक; **लोकेषु**=नाना लोक और योनियोंमें; **शरीरत्वाय कल्पते**=शरीर धारण करनेको विवश होता है ॥ ४ ॥

व्याख्या—इस सर्वशक्तिमान्, सबके प्रेरक और सबपर शासन करनेवाले परमेश्वरको यदि कोई साधक इस दुर्लभ मनुष्यशरीरका नाश होनेसे पहले ही जान लेता है, अर्थात् जबतक इसमें भजन-स्मरण आदि साधन करनेकी शक्ति बनी हुई है और जबतक यह मृत्युके मुखमें नहीं चला जाता, तभीतक (इसके रहते-रहते ही) सावधानीके साथ प्रयत्न करके परमात्माके तत्त्वका ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तब तो उसका जीवन सफल हो जाता है; अनादि कालसे जन्म-मृत्युके प्रवाहमें पड़ा हुआ वह जीव उससे छुटकारा पा जाता है। नहीं तो, फिर उसे अनेक कल्पोंतक विभिन्न लोकों और योनियोंमें शरीर धारण करनेके लिये बाध्य होना पड़ता है। अतएव मनुष्यको मृत्युसे पहले-पहले ही परमात्माको जान लेना चाहिये ॥ ४ ॥

यथाऽऽदर्शे तथाऽऽत्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके ।
यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ॥ ५ ॥

यथा आदर्शे=जैसे दर्पणमें (सामने आयी हुई वस्तु दीखती है); **तथा आत्मनि**=वैसे ही शुद्ध अन्तःकरणमें (ब्रह्मके दर्शन होते हैं); **यथा स्वप्ने**=जैसे स्वप्नमें (वस्तु स्पष्ट दिखलायी देती है); **तथा पितृलोके**=उसी प्रकार पितृलोकमें (परमेश्वर दीखता है); **यथा अप्सु**=जैसे जलमें (वस्तुके रूपकी झलक पड़ती है); **तथा गन्धर्वलोके**=उसी प्रकार गन्धर्वलोकमें; **परि ददृशे इव**=परमात्माकी झलक-सी पड़ती है (और); **ब्रह्मलोके**=ब्रह्मलोकमें (तो); **छायातपयोः इव**=छाया और धूपकी भाँति (आत्मा और परमात्मा दोनोंका

स्वरूप पृथक्-पृथक् स्पष्ट दिखलायी देता है) ॥ ५ ॥

व्याख्या—जैसे मलरहित दर्पणमें उसके सामने आयी हुई वस्तु दर्पणसे विलक्षण और स्पष्ट दिखलायी देती है, उसी प्रकार ज्ञानी महापुरुषोंके विशुद्ध अन्तःकरणमें वे परमेश्वर उससे विलक्षण एवं स्पष्ट दिखलायी देते हैं। जैसे स्वप्नमें वस्तुसमूह यथार्थरूपमें न दीखकर स्वप्नद्रष्टा मनुष्यकी वासना और विविध संस्कारोंके अनुसार कहींकी वस्तु कहीं विशृङ्खलरूपसे अस्पष्ट दिखायी देती है, वैसे ही पितृलोकमें परमेश्वरका स्वरूप यथावत् स्पष्ट न दीखकर अस्पष्ट ही दीखता है; क्योंकि पितृलोकको प्राप्त प्राणियोंको पूर्वजन्मकी स्मृति और वहाँके सम्बन्धियोंका पूर्ववत् ज्ञान होनेके कारण वे तदनुरूप वासनाजालमें आबद्ध रहते हैं। गन्धर्वलोक पितृलोककी अपेक्षा कुछ श्रेष्ठ है; इसलिये जैसे स्वप्नकी अपेक्षा जाग्रत्-अवस्थामें जलके अंदर देखनेपर प्रतिबिम्ब कुछ-का-कुछ न दीखकर यथावत् तो दीखता है, परंतु जलकी लहरोंके कारण हिलता हुआ-सा प्रतीत होता है, स्पष्ट नहीं दीखता, वैसे ही गन्धर्वलोकमें भी भोग-लहरियोंमें लहराते हुए चित्तसे युक्त वहाँके निवासियोंको भगवान्‌के सर्वथा स्पष्ट दर्शन नहीं होते। किंतु ब्रह्मलोकमें वहाँ रहनेवालोंको छाया और धूपकी तरह अपना और उन परब्रह्म परमेश्वरका ज्ञान प्रत्यक्ष और सुस्पष्ट होता है। वहाँ किसी प्रकारका भ्रम नहीं रहता। प्रथम अध्यायकी तीसरी वल्लीके पहले मन्त्रमें भी बतलाया गया है कि यह मनुष्यशरीर भी एक लोक है, इसमें परब्रह्म परमेश्वर और जीवात्मा—दोनों धूप और छायाकी तरह हृदयरूप गुफामें रहते हैं। अतः मनुष्यको दूसरे लोकोंकी कामना न करके इस मनुष्यशरीरके रहते-रहते ही उस परब्रह्म परमेश्वरको जान लेना चाहिये। यही इसका अभिप्राय है ॥ ५ ॥

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत्।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति ॥ ६ ॥

पृथक्=(अपने-अपने कारणसे) भिन्न-भिन्न रूपोंमें; **उत्पद्यमानानाम्**=उत्पन्न हुई; **इन्द्रियाणाम्**=इन्द्रियोंकी; **यत्**=जो; **पृथक् भावम्**=

पृथक्-पृथक् सत्ता है; **च**=और; **[यत्]**=जो उनका; **उदयास्तमयौ**=उदय और लय हो जानारूप स्वभाव है; **[तत्]**=उसे; **मत्वा**=जानकर; **धीरः**= (आत्माका स्वरूप उनसे विलक्षण समझनेवाला) धीर पुरुष; **न शोचति**= शोक नहीं करता ॥ ६ ॥

व्याख्या—शब्द-स्पर्शादि विषयोंके अनुभवरूप पृथक्-पृथक् कार्य करनेके लिये भिन्न-भिन्न रूपमें उत्पन्न हुई इन्द्रियोंके जो पृथक्-पृथक् भाव हैं तथा जाग्रत्-अवस्थामें कार्यशील हो जाना और सुषुप्तिकालमें लय हो जाना रूप जो उनकी परिवर्तनशीलता है, इनपर विचार करके जब बुद्धिमान् मनुष्य इस रहस्यको समझ लेता है कि 'ये इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि या इनका संघातरूप यह शरीर मैं नहीं हूँ, मैं इनसे सर्वथा विलक्षण नित्य चेतन हूँ, सर्वथा विशुद्ध एवं सदा एकरस हूँ,' तब वह किसी प्रकारका शोक नहीं करता, सदाके लिये दुःख और शोकसे रहित हो जाता है ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—*अगले दो मन्त्रोंमें तत्त्वविचार करते हैं—*

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम् ।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥ ७ ॥

इन्द्रियेभ्यः=इन्द्रियोंसे (तो); **मनः**=मन; **परम्**=श्रेष्ठ है; **मनसः**=मनसे; **सत्त्वम्**=बुद्धि; **उत्तमम्**=उत्तम है; **सत्त्वात्**=बुद्धिसे; **महान् आत्मा**=उसका स्वामी जीवात्मा; **अधि**=ऊँचा है (और); **महतः**=जीवात्मासे; **अव्यक्तम्**= अव्यक्त शक्ति; **उत्तमम्**=उत्तम है ॥ ७ ॥

व्याख्या—इन्द्रियोंसे मन श्रेष्ठ है, मनसे बुद्धि उत्तम है, बुद्धिसे इनका स्वामी जीवात्मा ऊँचा है; क्योंकि उन सबपर इसका अधिकार है। वे सभी इसकी आज्ञाका पालन करनेवाले हैं और यह उनका शासक है, अतः उनसे सर्वथा विलक्षण है। इस जीवात्मासे भी इसका अव्यक्त (कारण) शरीर प्रबल है, जो कि भगवान्‌की उस प्रकृतिका अंश है, जिसने इसको बन्धनमें डाल रखा है। तुलसीदासजीने भी कहा है **'जेहि बस कीन्हें जीव निकाया'** । गीतामें भी प्रकृतिजनित तीनों गुणोंके द्वारा जीवात्माके बाँधे जानेकी बात

कही गयी है (१४ । ५) ॥ ७ ॥

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च ।
यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥ ८ ॥*

तु=परंतु; **अव्यक्तात्**=अव्यक्तसे (भी वह); **व्यापकः**=व्यापक; **च**=और; **अलिङ्गः एव**=सर्वथा आकाररहित; **पुरुषः**=परमपुरुष; **परः**=श्रेष्ठ है; **यम्**=जिसको; **ज्ञात्वा**=जानकर; **जन्तुः**=जीवात्मा; **मुच्यते**=मुक्त हो जाता है; **च**=और; **अमृतत्वम्**=अमृतस्वरूप आनन्दमय ब्रह्मको; **गच्छति**=प्राप्त हो जाता है ॥ ८ ॥

व्याख्या—परंतु इस प्रकृतिसे भी इसके स्वामी परमपुरुष परमात्मा श्रेष्ठ हैं, जो निराकाररूपसे सर्वत्र व्यापक हैं (गीता ९ । ४) । जिनको जानकर यह जीवात्मा प्रकृतिके बन्धनसे सर्वथा मुक्त हो जाता है और अमृतस्वरूप परमानन्दको पा लेता है। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह इस प्रकृतिके बन्धनसे छूटनेके लिये इसके स्वामी परब्रह्म पुरुषोत्तमकी शरण ग्रहण करे। (गीता ७ । १४) परमात्मा जब इस जीवपर दया करके मायाके परदेको हटा लेते हैं, तभी इसको उनकी प्राप्ति होती है। नहीं तो यह मूढ़ जीव सर्वदा अपने समीप रहते हुए भी उन परमेश्वरको पहचान नहीं पाता ॥ ८ ॥

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो
य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ ९ ॥†

अस्य=इस परमेश्वरका; **रूपम्**=वास्तविक स्वरूप; **संदृशे**=अपने सामने प्रत्यक्ष विषयके रूपमें; **न तिष्ठति**=नहीं ठहरता; **एनम्**=इसको; **कश्चन**=कोई भी; **चक्षुषा**=चर्मचक्षुओंद्वारा; **न पश्यति**=नहीं देख पाता; **मनसा**=मनसे;

---

* इसका विस्तार इसी उपनिषद्के १ । ३ । १०,११ में देखना चाहिये।

† इससे मिलता-जुलता मन्त्र श्वेता० उ० ४ । २० है।

अभिक्लृप्तः=बारम्बार चिन्तन करके ध्यानमें लाया हुआ (वह परमात्मा); **हृदा**=निर्मल और निश्चल हृदयसे; **मनीषा**=(और) विशुद्ध बुद्धिके द्वारा; **[दृश्यते]**=देखनेमें आता है; **ये एतत् विदुः**=जो इसको जानते हैं; **ते अमृताः भवन्ति**=वे अमृत (आनन्द) स्वरूप हो जाते हैं॥ ९॥

व्याख्या—इन परब्रह्म परमेश्वरका दिव्यस्वरूप प्रत्यक्ष विषयके रूपमें अपने सामने नहीं ठहरता; परमात्माके दिव्यरूपको कोई भी मनुष्य प्राकृत चर्मचक्षुओंके द्वारा नहीं देख सकता। जो भाग्यवान् साधक निरन्तर प्रेमपूर्वक मनसे उनका चिन्तन करता रहता है, उसके हृदयमें जब भगवान्‌के उस दिव्यस्वरूपका ध्यान प्रगाढ़ होता है, उस समय उस साधकका हृदय भगवान्‌के ध्यानजनित स्वरूपमें निश्चल हो जाता है। ऐसे निश्चल हृदयसे ही वह साधक विशुद्ध बुद्धिरूप नेत्रोंके द्वारा परमात्माके उस दिव्यस्वरूपकी झाँकी करता है। जो इन परमेश्वरको जान लेते हैं, वे अमृत हो जाते हैं, अर्थात् परमानन्दस्वरूप बन जाते हैं॥ ९॥

सम्बन्ध—*योगधारणाके द्वारा मन और इन्द्रियोंको रोककर परमात्माको प्राप्त करनेका दूसरा साधन बतलाते हैं—*

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥ १०॥

यदा=जब; **मनसा सह**=मनके सहित; **पञ्च ज्ञानानि**=पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ; **अवतिष्ठन्ते**=भलीभाँति स्थिर हो जाती हैं; **बुद्धिः च**=और बुद्धि भी; **न विचेष्टति**=किसी प्रकारकी चेष्टा नहीं करती; **ताम्**=उस स्थितिको; **परमाम् गतिम् आहुः**=(योगी) परमगति कहते हैं॥ १०॥

व्याख्या—योगाभ्यास करते-करते जब मनके सहित पाँचों इन्द्रियाँ भलीभाँति स्थिर हो जाती हैं और बुद्धि भी एक परमात्माके स्वरूपमें इस प्रकार स्थित हो जाती है, जिससे उसको परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तुका तनिक भी ज्ञान नहीं रहता, उससे कोई भी चेष्टा नहीं बनती, उस स्थितिको योगीगण परमगति— योगकी सर्वोत्तम स्थिति बतलाते हैं॥ १०॥

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥ ११॥

ताम्=उस; **स्थिराम् इन्द्रियधारणाम्**=इन्द्रियोंकी स्थिर धारणाको ही; **योगम् इति**='योग'; **मन्यन्ते**=मानते हैं; **हि**=क्योंकि; **तदा**=उस समय; **अप्रमत्तः**=(साधक) प्रमादरहित; **भवति**=हो जाता है; **योगः**=योग; **प्रभवाप्ययौ**=उदय और अस्त होनेवाला है॥ ११॥

व्याख्या—इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी स्थिर धारणाका ही नाम योग है—ऐसा अनुभवी योगी महानुभाव मानते हैं; क्योंकि उस समय साधक विषय-दर्शनरूप सब प्रकारके प्रमादसे सर्वथा रहित हो जाता है। परंतु यह योग उदय और अस्त होनेवाला है; अतः परमात्माको प्राप्त करनेकी इच्छावाले साधकको निरन्तर योगयुक्त रहनेका दृढ़ अभ्यास करते रहना चाहिये॥ ११॥

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते॥ १२॥

न वाचा=(वह परब्रह्म परमेश्वर) न तो वाणीसे; **न मनसा**=न मनसे (और); **न चक्षुषा एव**=न नेत्रोंसे ही; **प्राप्तुम् शक्यः**=प्राप्त किया जा सकता है (फिर); **तत् अस्ति**='वह अवश्य है'; **इति ब्रुवतः अन्यत्र**=इस प्रकार कहनेवालेके अतिरिक्त दूसरेको; **कथम् उपलभ्यते**=कैसे मिल सकता है॥ १२॥

व्याख्या—वह परब्रह्म परमात्मा वाणी आदि कर्मेन्द्रियोंसे, चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियोंसे और मन-बुद्धिरूप अन्तःकरणसे भी नहीं प्राप्त किया जा सकता; क्योंकि वह इन सबकी पहुँचसे परे है। परंतु वह है अवश्य और उसे प्राप्त करनेकी तीव्र इच्छा रखनेवालेको वह अवश्य मिलता है—इस बातको जो नहीं कहता, नहीं स्वीकार करता अर्थात् इसपर जिसका दृढ़ विश्वास नहीं है, उसको वह कैसे मिल सकता है। अतः पूर्व मन्त्रोंमें बतलायी हुई रीतिके अनुसार इन्द्रिय-मन आदि सबको योगाभ्यासके द्वारा रोककर 'वह अवश्य है और साधकको मिलता है' ऐसे दृढ़तम निश्चयसे निरन्तर उसकी प्राप्तिके लिये

परम उत्कण्ठाके साथ प्रयत्नशील रहना चाहिये ॥ १२ ॥

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः ।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥ १३ ॥

अस्ति=(अतः उस परमात्माको पहले तो) 'वह अवश्य है'; **इति एव**=इस प्रकार निश्चयपूर्वक; **उपलब्धव्यः**=ग्रहण करना चाहिये, अर्थात् पहले उसके अस्तित्वका दृढ़ निश्चय करना चाहिये; **[तदनु]**=तदनन्तर; **तत्त्वभावेन**=तत्त्वभावसे भी; **[उपलब्धव्यः]**=उसे प्राप्त करना चाहिये; **उभयोः**=इन दोनों प्रकारोंमेंसे; **अस्ति इति एव**='वह अवश्य है' इस प्रकार निश्चयपूर्वक; **उपलब्धस्य**=परमात्माकी सत्ताको स्वीकार करनेवाले साधकके लिये; **तत्त्वभावः**=परमात्माका तात्त्विक स्वरूप (अपने-आप); **प्रसीदति**= (शुद्ध हृदयमें) प्रत्यक्ष हो जाता है ॥ १३ ॥

व्याख्या—साधकको चाहिये कि पहले तो वह इस बातका दृढ़ निश्चय करे कि 'परमेश्वर अवश्य हैं और वे साधकको अवश्य मिलते हैं'; फिर इसी विश्वाससे उन्हें स्वीकार करे और उसके पश्चात् तात्त्विक विवेचनपूर्वक निरन्तर उनका ध्यान करके उन्हें प्राप्त करे। जब साधक इस निश्चित विश्वाससे भगवान्‌को स्वीकार कर लेता है कि 'वे अवश्य हैं और अपने हृदयमें ही विराजमान हैं, उनकी प्राप्ति अवश्य होती है', तो परमात्माका वह तात्त्विक दिव्य स्वरूप उसके विशुद्ध हृदयमें अपने-आप प्रकट हो जाता है, उसका प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है ॥ १३ ॥

सम्बन्ध—*अब निष्कामभावकी महिमा बतलाते हैं*—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ १४ ॥

अस्य=इस (साधक) के; **हृदि श्रिताः**=हृदयमें स्थित; **ये कामाः**=जो कामनाएँ (हैं); **सर्वे यदा**=(वे) सब-की-सब जब; **प्रमुच्यन्ते**=समूल नष्ट हो जाती हैं; **अथ**=तब; **मर्त्यः**=मरणधर्मा मनुष्य; **अमृतः**=अमर; **भवति**=हो जाता है (और); **अत्र**=(वह) यहीं; **ब्रह्म समश्नुते**=ब्रह्मका भलीभाँति अनुभव

कर लेता है ॥ १४ ॥

व्याख्या—मनुष्यका हृदय नित्य-निरन्तर विभिन्न प्रकारकी ऐहलौकिक और पारलौकिक कामनाओंसे भरा रहता है; इसी कारण न तो वह कभी यह विचार ही करता है कि परम आनन्दस्वरूप परमेश्वरको किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है और न काम्यविषयोंकी आसक्तिके कारण वह परमात्माको पानेकी अभिलाषा ही करता है। ये सारी कामनाएँ साधक पुरुषके हृदयसे जब समूल नष्ट हो जाती हैं; तब वह—जो सदासे मरणधर्मा था—अमर हो जाता है और यहीं—इस मनुष्य-शरीरमें ही उस परब्रह्म परमेश्वरका भलीभाँति साक्षात् अनुभव कर लेता है ॥ १४ ॥

सम्बन्ध—*संशयरहित दृढ़ निश्चयकी महिमा बतलाते हैं*—

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम् ॥ १५ ॥

यदा=जब (इसको); **हृदयस्य**=हृदयकी; **सर्वे**=सम्पूर्ण; **ग्रन्थयः**=ग्रन्थियाँ; **प्रभिद्यन्ते**=भलीभाँति खुल जाती हैं; **अथ**=तब; **मर्त्यः**=वह मरणधर्मा मनुष्य; **इह**=इसी शरीरमें; **अमृतः**=अमर; **भवति**=हो जाता है; **हि एतावत्**=बस, इतना ही; **अनुशासनम्**=सनातन उपदेश है ॥ १५ ॥

व्याख्या—जब साधकके हृदयकी अहंता-ममतारूप समस्त अज्ञान-ग्रन्थियाँ भलीभाँति कट जाती हैं, उसके सब प्रकारके संशय सर्वथा नष्ट हो जाते हैं और उपर्युक्त उपदेशके अनुसार उसे यह दृढ़ निश्चय हो जाता है कि 'परब्रह्म परमेश्वर अवश्य हैं और वे निश्चय ही मिलते हैं', तब वह इस शरीरमें रहते हुए ही परमात्माका साक्षात् करके अमर हो जाता है। बस, इतना ही वेदान्तका सनातन उपदेश है ॥ १५ ॥

सम्बन्ध—*अब मरनेके बाद होनेवाली जीवात्माकी गतिका वर्णन करते हैं*—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्य-
स्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति
विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥ १६ ॥

हृदयस्य=हृदयकी; **शतम् च एका च**=(कुल मिलाकर) एक सौ एक; **नाड्यः**=नाड़ियाँ हैं; **तासाम्**=उनमेंसे; **एका**=एक; **मूर्धानम्**=मूर्धा (कपाल) की ओर; **अभिनिःसृता**=निकली हुई है (इसे ही सुषुम्णा कहते हैं); **तया**=उसके द्वारा; **ऊर्ध्वम्**=ऊपरके लोकोंमें; **आयन्**=जाकर (मनुष्य); **अमृतत्वम्**=अमृतभावको; **एति**=प्राप्त हो जाता है; **अन्याः**=दूसरी एक सौ नाड़ियाँ; **उत्क्रमणे**=मरणकालमें (जीवको); **विष्वङ्**=नाना प्रकारकी योनियोंमें ले जानेकी हेतु; **भवन्ति**=होती हैं ॥ १६ ॥

व्याख्या—हृदयमें एक सौ एक प्रधान नाड़ियाँ हैं, जो वहाँसे सब ओर फैली हुई हैं। उनमेंसे एक नाड़ी, जिसको सुषुम्णा कहते हैं, हृदयसे मस्तककी ओर गयी है। भगवान्‌के परमधाममें जानेका अधिकारी उस नाड़ीके द्वारा शरीरसे बाहर निकलकर सबसे ऊँचे लोकमें अर्थात् भगवान्‌के परमधाममें जाकर अमृतस्वरूप परमानन्दमय परमेश्वरको प्राप्त हो जाता है; और दूसरे जीव मरणकालमें दूसरी नाड़ियोंके द्वारा शरीरसे बाहर निकलकर अपने-अपने कर्म और वासनाके अनुसार नाना योनियोंको प्राप्त होते हैं ॥ १६ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।
तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण
तं विद्याच्छुक्रममृतं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥ १७ ॥*

अन्तरात्मा=सबका अन्तर्यामी; **अङ्गुष्ठमात्रः**=अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाला; **पुरुषः**=परमपुरुष; **सदा**=सदैव; **जनानाम्**=मनुष्योंके; **हृदये**=हृदयमें; **सन्निविष्टः**=भलीभाँति प्रविष्ट है; **तम्**=उसको; **मुञ्जात्**=मूँजसे; **इषीकाम् इव**=सींककी भाँति; **स्वात्**=अपनेसे (और); **शरीरात्**=शरीरसे; **धैर्येण**=धीरतापूर्वक; **प्रवृहेत्**=पृथक् करके देखे; **तम्**=उसीको; **शुक्रम् अमृतम् विद्यात्**=विशुद्ध अमृतस्वरूप समझे; **तम् शुक्रम् अमृतम् विद्यात्**=(और)

* इसका पूर्वार्ध श्वेता० ३। १३ के पूर्वार्धसे मिलता है।

उसीको विशुद्ध अमृतस्वरूप समझे॥ १७॥

व्याख्या—सबके अन्तर्यामी परमपुरुष परमेश्वर हृदयके अनुरूप अङ्गुष्ठमात्र रूपवाले होकर सदैव सभी मनुष्योंके भीतर निवास करते हैं, तो भी मनुष्य उनकी ओर देखतातक नहीं। जो प्रमादरहित होकर उनकी प्राप्तिके साधनमें लगे हैं, उन मनुष्योंको चाहिये कि उन शरीरस्थ परमेश्वरको इस शरीरसे और अपने-आपसे भी उसी तरह पृथक् और विलक्षण समझें, जैसे साधारण लोग मूँजसे सींकको पृथक् देखते हैं। अर्थात् जिस प्रकार मूँजमें रहनेवाली सींक मूँजसे विलक्षण और पृथक् है, उसी प्रकार वह शरीर और आत्माके भीतर रहनेवाला परमेश्वर उन दोनोंसे सर्वथा विलक्षण है। वही विशुद्ध अमृत है, वही विशुद्ध अमृत है। यहाँ यह वाक्यकी पुनरावृत्ति उपदेशकी समाप्ति एवं सिद्धान्तकी निश्चितताको सूचित करती है॥ १७॥

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा
विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्।
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्यु-
रन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव॥ १८॥

अथ=इस प्रकार उपदेश सुननेके अनन्तर; **नचिकेतः**=नचिकेता; **मृत्यु-प्रोक्ताम्**=यमराजद्वारा बतलायी हुई; **एताम्**=इस; **विद्याम्**=विद्याको; **च**=और; **कृत्स्नम्**=सम्पूर्ण; **योगविधिम्**=योगकी विधिको; **लब्ध्वा**=प्राप्त करके; **विमृत्युः**=मृत्युसे रहित (और); **विरजः [सन्]**=सब प्रकारके विकारोंसे शून्य विशुद्ध होकर; **ब्रह्मप्राप्तः अभूत्**=ब्रह्मको प्राप्त हो गया; **अन्यः अपि यः**=दूसरा भी जो कोई; **[इदम्] अध्यात्मम् एवंवित्**=इस अध्यात्म-विद्याको इसी प्रकार जाननेवाला है; **[सः अपि एवम्] एव [भवति]**= वह भी ऐसा ही हो जाता है अर्थात् मृत्यु और विकारोंसे रहित होकर ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है॥ १८॥

व्याख्या—इस प्रकार यमराजके द्वारा उपदिष्ट समस्त विवेचनको श्रद्धा-पूर्वक सुननेके पश्चात् नचिकेता उनके द्वारा बतायी हुई सम्पूर्ण विद्या और योगकी

विधिको प्राप्त करके जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त, सब प्रकारके विकारोंसे रहित एवं सर्वथा विशुद्ध होकर परब्रह्म परमेश्वरको प्राप्त हो गया। दूसरा भी जो कोई इस अध्यात्मविद्याको इस प्रकार नचिकेताकी भाँति ठीक-ठीक जान लेता है और श्रद्धापूर्वक उसे धारण कर लेता है, वह भी नचिकेताकी भाँति सब विकारोंसे रहित तथा जन्म-मृत्युसे मुक्त होकर परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है ॥ १८ ॥

तृतीय वल्ली समाप्त ॥ ३ ॥ (६)

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥ २ ॥



॥ कृष्णयजुर्वेदीय कठोपनिषद् समाप्त ॥

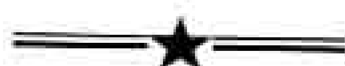


शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

इसका अर्थ इस उपनिषद्के आरम्भमें दिया जा चुका है।



॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

प्रश्नोपनिषद्

प्रश्नोपनिषद् अथर्ववेदके पिप्पलाद-शाखीय ब्राह्मणभागके अन्तर्गत है। इस उपनिषद्में पिप्पलाद ऋषिने सुकेशा आदि छः ऋषियोंके छः प्रश्नोंका क्रमसे उत्तर दिया है; इसलिये इसका नाम प्रश्नोपनिषद् हो गया।

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाँसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥*
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥†

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

देवाः=हे देवगण! **[वयम्] यजत्राः [सन्तः]**=हम भगवान्‌का यजन (आराधन) करते हुए; **कर्णेभिः**=कानोंसे; **भद्रम्**=कल्याणमय वचन; **शृणुयाम**=सुनें; **अक्षभिः**=नेत्रोंसे; **भद्रम्**=कल्याण (ही); **पश्येम**=देखें; **स्थिरैः**=सुदृढ़; **अङ्गैः**=अङ्गों; **तनूभिः**=एवं शरीरसे; **तुष्टुवांसः [वयम्]**= भगवान्‌की स्तुति करते हुए हमलोग; **यत्**=जो; **आयुः**=आयु; **देवहितम्**= आराध्यदेव परमात्माके काम आ सके; **[तत्]**=उसका; **व्यशेम**=उपभोग करें; **वृद्धश्रवाः**=सब ओर फैले हुए सुयशवाले; **इन्द्रः**=इन्द्र; **नः**=हमारे लिये; **स्वस्ति दधातु**=कल्याणका पोषण करें; **विश्ववेदाः**=सम्पूर्ण विश्वका ज्ञान रखनेवाले; **पूषा**=पूषा; **नः**=हमारे लिये; **स्वस्ति [दधातु]**=कल्याणका पोषण करें; **अरिष्टनेमिः**=अरिष्टोंको मिटानेके लिये चक्रसदृश शक्तिशाली; **तार्क्ष्यः**=गरुडदेव; **नः**=हमारे लिये; **स्वस्ति [दधातु]**=कल्याणका पोषण करें;

---

* † ये दोनों मन्त्र यजु० २५। २१,२५,१९; ऋग्० १। ८९। ८,१। ८९। ६ में है।

(तथा) **बृहस्पतिः**=(बुद्धिके स्वामी) बृहस्पति भी; **नः**=हमारे लिये; **स्वस्ति [दधातु]**=कल्याणकी पुष्टि करें; **ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः**=परमात्मन् ! हमारे त्रिविध तापकी शान्ति हो।

व्याख्या—गुरुके यहाँ अध्ययन करनेवाले शिष्य अपने गुरु, सहपाठी तथा मानवमात्रका कल्याण-चिन्तन करते हुए देवताओंसे प्रार्थना करते हैं कि 'हे देवगण ! हम अपने कानोंसे शुभ—कल्याणकारी वचन ही सुनें। निन्दा, चुगली, गाली या दूसरी-दूसरी पापकी बातें हमारे कानोंमें न पड़ें और हमारा अपना जीवन यजन-परायण हो—हम सदा भगवान्‌की आराधनामें ही लगे रहें। न केवल कानोंसे सुनें, नेत्रोंसे भी हम सदा कल्याणका ही दर्शन करें। किसी अमङ्गलकारी अथवा पतनकी ओर ले जानेवाले दृश्योंकी ओर हमारी दृष्टिका आकर्षण कभी न हो। हमारे शरीर, हमारा एक-एक अवयव सुदृढ़ एवं सुपुष्ट हो—वह भी इसलिये कि हम उनके द्वारा भगवान्‌का स्तवन करते रहें। हमारी आयु भोग-विलास या प्रमादमें न बीते। हमें ऐसी आयु मिले, जो भगवान्‌के कार्यमें आ सके। [देवता हमारी प्रत्येक इन्द्रियमें व्याप्त रहकर उसका संरक्षण और संचालन करते हैं। उनके अनुकूल रहनेसे हमारी इन्द्रियाँ सुगमतापूर्वक सन्मार्गमें लगी रह सकती हैं, अतः उनसे प्रार्थना करनी उचित ही है।] जिनका सुयश सब ओर फैला है, वे देवराज इन्द्र, सर्वज्ञ पूषा, अरिष्टनिवारक तार्क्ष्य (गरुड) और बुद्धिके स्वामी बृहस्पति—ये सभी देवता भगवान्‌की दिव्य विभूतियाँ हैं। ये सदा हमारे कल्याणका पोषण करें। इनकी कृपासे हमारेसहित प्राणिमात्रका कल्याण होता रहे। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—सभी प्रकारके तापोंकी शान्ति हो।

प्रथम प्रश्न

ॐ सुकेशा च भारद्वाजः शैव्यश्च सत्यकामः सौर्यायणी च गार्ग्यः कौसल्यश्चाश्वलायनो भार्गवो वैदर्भिः कबन्धी कात्यायनस्ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह

समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः ॥ १ ॥

ॐ=ॐ इस परमात्माके नामका स्मरण करके उपनिषद्का आरम्भ करते हैं; **भारद्वाजः सुकेशा**=भरद्वाज-पुत्र सुकेशा; **च शैब्यः सत्यकामः**=और शिविकुमार सत्यकाम; **च गार्ग्यः सौर्यायणी**=तथा गर्गगोत्रमें उत्पन्न सौर्यायणी; **च कौसल्यः आश्वलायनः**=एवं कोसलदेशीय आश्वलायन; **च वैदर्भिः भार्गवः**=तथा विदर्भनिवासी भार्गव; **[च] कात्यायनः कबन्धी**=और कत्य ऋषिका प्रपौत्र कबन्धी; **ते एते ह ब्रह्मपराः**=वे ये छः प्रसिद्ध ऋषि, जो वेदपरायण (और); **ब्रह्मनिष्ठाः**=वेदमें निष्ठा रखनेवाले थे; **ते ह**=वे सब-के-सब; **परम् ब्रह्म**=परब्रह्मकी; **अन्वेषमाणाः**=खोज करते हुए; **एषः ह वै तत् सर्वम् वक्ष्यति इति**=यह समझकर कि ये (पिप्पलाद ऋषि) निश्चय ही उस ब्रह्मके विषयमें सारी बातें बतायेंगे; **समित्पाणयः**=हाथमें समिधा लिये हुए; **भगवन्तम् पिप्पलादम् उपसन्नाः**=भगवान् पिप्पलाद ऋषिके पास गये ॥ १ ॥

व्याख्या—ओंकारस्वरूप सच्चिदानन्दघन परमात्माका स्मरण करके उपनिषद्का आरम्भ किया जाता है। प्रसिद्ध है कि भरद्वाजके पुत्र सुकेशा, शिविकुमार सत्यकाम, गर्गगोत्रमें उत्पन्न सौर्यायणी, कोसलदेश-निवासी आश्वलायन, विदर्भदेशीय भार्गव और कत्यके प्रपौत्र कबन्धी—ये वेदाभ्यासके परायण और ब्रह्मनिष्ठ अर्थात् श्रद्धापूर्वक वेदानुकूल आचरण करनेवाले थे। एक बार ये छहों ऋषि परब्रह्म परमेश्वरकी जिज्ञासासे एक साथ बाहर निकले। इन्होंने सुना था कि पिप्लाद ऋषि इस विषयको विशेषरूपसे जानते हैं; अतः यह सोचकर कि 'परब्रह्मके सम्बन्धमें हम जो कुछ जानना चाहते हैं, वह सब वे हमें बता देंगे' वे लोग जिज्ञासुके वेशमें हाथमें समिधा लिये हुए महर्षि पिप्पलादके पास गये ॥ १ ॥

तान्ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ यथाकामं प्रश्नान्पृच्छत यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्याम इति ॥ २ ॥

तान् सः ह=उन सुकेशा आदि ऋषियोंसे वे प्रसिद्ध; **ऋषिः उवाच**=

(पिप्पलाद) ऋषि बोले—; **भूयः एव**=तुमलोग पुनः; **श्रद्धया**=श्रद्धाके साथ; **ब्रह्मचर्येण**=ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए; (और) **तपसा**=तपस्यापूर्वक; **संवत्सरम्**=एक वर्षतक (यहाँ); **संवत्स्यथ**=भलीभाँति निवास करो; **यथाकामम्**=(उसके बाद) अपनी-अपनी इच्छाके अनुसार; **प्रश्नान् पृच्छत**=प्रश्न पूछना; **यदि विज्ञास्यामः**=यदि (तुम्हारी पूछी हुई बातोंको) मैं जानता होऊँगा; **ह सर्वम्**=तो निःसंदेह वे सब बातें; **वः वक्ष्यामः इति**=तुमलोगोंको बताऊँगा ॥ २ ॥

व्याख्या—उपर्युक्त छहों ऋषियोंको परब्रह्मकी जिज्ञासासे अपने पास आया देखकर महर्षि पिप्पलादने उनसे कहा—तुमलोग तपस्वी हो, तुमने ब्रह्मचर्यके पालनपूर्वक साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़े हैं; तथापि मेरे आश्रममें रहकर पुनः एक वर्षतक श्रद्धापूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए तपश्चर्या करो। उसके बाद तुमलोग जो चाहो, मुझसे प्रश्न करना। यदि तुम्हारे पूछे हुए विषयका मुझे ज्ञान होगा तो निस्संदेह तुम्हें सब बातें भलीभाँति समझाकर बताऊँगा ॥ २ ॥

सम्बन्ध—*ऋषिके आज्ञानुसार सबने श्रद्धा, ब्रह्मचर्य और तपस्याके साथ विधिपूर्वक एक वर्षतक वहाँ निवास किया।*

अथ कबन्धी कात्यायन उपेत्य पप्रच्छ।
भगवन् कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥ ३ ॥

अथ=तदनन्तर (उनमेंसे); **कात्यायनः कबन्धी**=कत्य ऋषिके प्रपौत्र कबन्धीने; **उपेत्य**=(पिप्पलाद ऋषिके) पास जाकर; **पप्रच्छ**=पूछा—; **भगवन्**=भगवन्!; **कुतः ह वै**=किस प्रसिद्ध और सुनिश्चित कारणविशेषसे; **इमाः प्रजाः**=यह सम्पूर्ण प्रजा; **प्रजायन्ते**=नाना रूपोंमें उत्पन्न होती है; **इति**=यह मेरा प्रश्न है ॥ ३ ॥

व्याख्या—महर्षि पिप्पलादकी आज्ञा पाकर वे लोग श्रद्धापूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए वहीं तपश्चर्या करने लगे। महर्षिकी देख-रेखमें संयमपूर्वक रहकर एक वर्षतक उन्होंने त्यागमय जीवन बिताया। उसके बाद वे सब पुनः पिप्पलाद ऋषिके पास गये तथा उनमेंसे सर्वप्रथम कत्य ऋषिके

प्रपौत्र कबन्धीने श्रद्धा और विनयपूर्वक पूछा—'भगवन् ! जिससे ये सम्पूर्ण चराचर जीव नाना रूपोंमें उत्पन्न होते हैं, जो इनका सुनिश्चित परम कारण है, वह कौन है ?' ॥ ३ ॥

तस्मै स होवाच प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते। रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति ॥ ४ ॥

तस्मै सः ह उवाच=उससे वे प्रसिद्ध महर्षि बोले—; **वै प्रजाकामः**=निश्चय ही प्रजा उत्पन्न करनेकी इच्छावाला (जो); **प्रजापतिः**=प्रजापति है; **सः तपः अतप्यत**=उसने तप किया; **सः तपः तप्त्वा**=उसने तपस्या करके (जब सृष्टिका आरम्भ किया, उस समय पहले); **सः**=उसने; **रयिम् च**=एक तो रयि तथा; **प्राणम् च**=दूसरा प्राण भी; **इति मिथुनम्**=यह जोड़ा; **उत्पादयते**=उत्पन्न किया; **एतौ मे**=(इन्हें उत्पन्न करनेका उद्देश्य यह था कि) ये दोनों मेरी; **बहुधा**=नाना प्रकारकी; **प्रजाः**=प्रजाओंको; **करिष्यतः इति**=उत्पन्न करेंगे ॥ ४ ॥

व्याख्या—कबन्धी ऋषिका यह प्रश्न सुनकर महर्षि पिप्पलाद बोले—हे कात्यायन ! यह बात वेदोंमें प्रसिद्ध है कि सम्पूर्ण जीवोंके स्वामी परमेश्वरको सृष्टिके आदिमें जब प्रजा उत्पन्न करनेकी इच्छा हुई, तब उन्होंने संकल्परूप तप किया। तपसे उन्होंने सर्वप्रथम रयि और प्राण—इन दोनोंका एक जोड़ा उत्पन्न किया। उसे उत्पन्न करनेका उद्देश्य यह था कि ये दोनों मिलकर मेरे लिये नाना प्रकारकी सृष्टि उत्पन्न करेंगे। इस मन्त्रमें सबको जीवन प्रदान करनेवाली जो समष्टि जीवनी शक्ति है, उसे ही 'प्राण' नाम दिया गया है। इस जीवनी शक्तिसे ही प्रकृतिके स्थूल स्वरूपमें—समस्त पदार्थोंमें जीवन, स्थिति और यथायोग्य सामञ्जस्य आता है एवं स्थूल भूत-समुदायका नाम 'रयि' रखा गया है, जो प्राणरूप जीवनी शक्तिसे अनुप्राणित होकर कार्यक्षम होता है। प्राण चेतना है, रयि शक्ति और आकृति है। प्राण और रयिके संयोगसे ही सृष्टिका समस्त कार्य सम्पन्न होता है। इन्हींको अन्यत्र अग्नि और

सोमके नामसे भी कहा गया है ॥ ४ ॥

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत् सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च तस्मान्मूर्तिरेव रयिः ॥ ५ ॥

ह=यह निश्चय है कि; **आदित्यः वै**= सूर्य ही; **प्राणः**=प्राण है (और); **चन्द्रमाः एव**=चन्द्रमा ही; **रयिः**=रयि है; **यत् मूर्तम् च**=जो कुछ आकारवाला है (पृथ्वी, जल और तेज); **अमूर्तम् च**=और जो आकाररहित है (आकाश और वायु); **एतत् सर्वम् वै**=यह सभी कुछ; **रयिः**=रयि है; **तस्मात्**=इसलिये; **मूर्तिः एव**=मूर्तमात्र ही अर्थात् देखने तथा जाननेमें आनेवाली सभी वस्तुएँ; **रयिः**=रयि हैं ॥ ५ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें उपर्युक्त प्राण और रयिका स्वरूप समझाया गया है। पिप्पलाद कहते हैं कि यह दीखनेवाला सम्पूर्ण जगत् प्राण और रयि—इन दोनों तत्त्वोंके संयोग या सम्मिश्रणसे बना है; इसलिये यद्यपि इन्हें पृथक्-पृथक् करके नहीं बताया जा सकता, तथापि तुम इस प्रकार समझो—यह सूर्य, जो हमें प्रत्यक्ष दिखलायी देता है, यही प्राण है; क्योंकि इसीमें सबको जीवन प्रदान करनेवाली चेतना-शक्तिकी प्रधानता और अधिकता है। यह सूर्य उस सूक्ष्म जीवनी शक्तिका घनीभूत स्वरूप है। उसी प्रकार यह चन्द्रमा ही 'रयि' है; क्योंकि इसमें स्थूल तत्त्वोंको पुष्ट करनेवाली भूत तन्मात्राओंकी ही अधिकता है। समस्त प्राणियोंके स्थूल शरीरोंका पोषण इस चन्द्रमाकी शक्तिको पाकर ही होता है। हमारे शरीरोंमें ये दोनों शक्तियाँ प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्गमें व्याप्त हैं। उनमें जीवनी शक्तिका सम्बन्ध सूर्यसे है और मांस, मेद आदि स्थूल तत्त्वोंका सम्बन्ध चन्द्रमासे है ॥ ५ ॥

अथादित्य उदयन्यत्प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते। यद्दक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते ॥ ६ ॥

अथ=रात्रिके अनन्तर; **उदयन्**=उदय होता हुआ; **आदित्यः**=सूर्य; **यत्**

प्राचीम् दिशम्=जो पूर्व दिशामें; **प्रविशति**=प्रवेश करता है; **तेन प्राच्यान् प्राणान्**=उससे पूर्व दिशाके प्राणोंको; **रश्मिषु**=अपनी किरणोंमें; **संनिधत्ते**=धारण करता है (उसी प्रकार); **यत् दक्षिणाम्**=जो दक्षिण दिशाको; **यत् प्रतीचीम्**=जो पश्चिम दिशाको; **यत् उदीचीम्**=जो उत्तर दिशाको; **यत् अधः**=जो नीचेके लोकोंको; **यत् ऊर्ध्वम्**=जो ऊपरके लोकोंको; **यत् अन्तरा दिशः**=जो दिशाओंके बीचके भागों (कोणों) को (और); **यत् सर्वम्**=जो अन्य सबको; **प्रकाशयति**=प्रकाशित करता है; **तेन सर्वान् प्राणान्**=उससे समस्त प्राणोंको अर्थात् सम्पूर्ण जगत्के प्राणोंको; **रश्मिषु संनिधत्ते**=अपनी किरणोंमें धारण करता है ॥ ६ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीरोंमें जो जीवनी शक्ति है, उसके साथ सूर्यका सम्बन्ध दिखलाया गया है। भाव यह है कि रात्रिके बाद जब सूर्य उदय होकर पूर्वदिशामें अपना प्रकाश फैलाता है, उस समय वहाँके प्राणियोंके प्राणोंको अपनी किरणोंमें धारण करता है अर्थात् उनकी जीवनी शक्तिका सूर्यकी किरणोंसे सम्बन्ध होकर उसमें नवीन स्फूर्ति आ जाती है। उसी प्रकार जिस समय जिस दिशामें जहाँ-जहाँ सूर्य अपना प्रकाश फैलाता है, वहाँ-वहाँके प्राणियोंको स्फूर्ति देता रहता है; अतः सूर्य ही समस्त प्राणियोंका प्राण है ॥ ६ ॥

स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते। तदेतदृचाभ्युक्तम् ॥ ७ ॥

सः एषः=वह यह सूर्य ही; **उदयते**=उदय होता है; **वैश्वानरः अग्निः**=(जो कि) वैश्वानर अग्नि (जठराग्नि) (और); **विश्वरूपः प्राणः**=विश्वरूप प्राण है; **तत् एतत्**=वही यह बात; **ऋचा**=ऋचाद्वारा; **अभ्युक्तम्**=आगे कही गयी है ॥ ७ ॥

व्याख्या—प्राणियोंके शरीरमें जो वैश्वानर नामसे कही जानेवाली जठराग्नि है, जिससे अन्नका पाचन होता है (गीता १५। १४), वह सूर्यका ही अंश है; अतः सूर्य ही है। तथा जो प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान—इन पाँच रूपोंमें विभक्त प्राण है, वह भी इस उदय होनेवाले सूर्यका ही अंश है; अतः

सूर्य ही है। यही बात अगली ऋचाद्वारा समझायी गयी है ॥ ७ ॥

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं
परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्।
सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः
प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥ ८ ॥

विश्वरूपम्=सम्पूर्ण रूपोंके केन्द्र; **जातवेदसम्**=सर्वज्ञ; **परायणम्**=सर्वाधार; **ज्योतिः**=प्रकाशमय; **तपन्तम्**=तपते हुए; **हरिणम्**=किरणोंवाले सूर्यको; **एकम्**=अद्वितीय (बतलाते हैं); **एषः**=यह; **सहस्ररश्मिः**=सहस्रों किरणोंवाला; **सूर्यः**=सूर्य; **शतधा वर्तमानः**=सैकड़ों प्रकारसे वर्तता हुआ; **प्रजानाम्**=समस्त जीवोंका; **प्राणः**=प्राण (जीवनदाता) होकर; **उदयति**=उदय होता है ॥ ८ ॥

व्याख्या—इस सूर्यके तत्त्वको जाननेवालोंका कहना है कि यह किरण-जालसे मण्डित एवं प्रकाशमय, तपता हुआ सूर्य विश्वके समस्त रूपोंका केन्द्र है। सभी रूप (रंग और आकृतियाँ) सूर्यसे उत्पन्न और प्रकाशित होते हैं। यह सविता ही सबका उत्पत्तिस्थान है और यही सबकी जीवन-ज्योतिका मूल स्रोत है। यह सर्वज्ञ और सर्वाधार है, वैश्वानर अग्नि और प्राण-शक्तिके रूपमें सर्वत्र व्याप्त है और सबको धारण किये हुए है। समस्त जगत्का प्राणरूप सूर्य एक ही है—इसके समान इस जगत्में दूसरी कोई भी जीवनी शक्ति नहीं है। यह सहस्रों किरणोंवाला सूर्य हमारे सैकड़ों प्रकारके व्यवहार सिद्ध करता हुआ उदय होता है। जगत्में उष्णता और प्रकाश फैलाना, सबको जीवन प्रदान करना, ऋतुओंका परिवर्तन करना आदि हमारी सैकड़ों प्रकारकी आवश्यकताओंको पूर्ण करता हुआ सम्पूर्ण सृष्टिका जीवनदाता प्राण ही सूर्यके रूपमें उदित होता है ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—*इस प्रकार यहाँतक कात्यायन कबन्धीके प्रश्नानुसार संक्षेपमें यह बताया गया कि उस सर्वशक्तिमान् परब्रह्म परमेश्वरसे ही उसके संकल्पद्वारा प्राण और रयिके संयोगसे इस सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति आदि होती है। अब इस प्राणशक्ति और रयिशक्तिके*

सम्बन्धसे परमेश्वरकी उपासनाका प्रकार और उसका फल बतलानेके लिये दूसरा प्रकरण आरम्भ करते हैं—

संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिणं चोत्तरं च तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते। त एव पुनरावर्तन्ते तस्मादेत ऋषयः प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते। एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः ॥ ९ ॥

संवत्सरः वै=संवत्सर (बारह महीनोंवाला काल) ही; **प्रजापतिः**=प्रजापति है; **तस्य अयने**=उसके दो अयन हैं—; **दक्षिणम् च**=एक दक्षिण और; **उत्तरम् च**=दूसरा उत्तर; **तत् ये ह**=वहाँ मनुष्योंमें जो लोग निश्चयपूर्वक; **तत् इष्टापूर्ते वै**=(केवल) उन इष्ट और पूर्त कर्मोंको ही; **कृतम् इति**=करनेयोग्य कर्म मानकर (सकाम भावसे); **उपासते**=उनकी उपासना करते हैं (उन्हींके अनुष्ठानमें लगे रहते हैं); **ते चान्द्रमसम्**=वे चन्द्रमाके; **लोकम् एव**=लोकको ही; **अभिजयन्ते**=जीतते हैं अर्थात् प्राप्त होते हैं (और); **ते एव**=वे ही; **पुनः आवर्तन्ते**=पुनः (वहाँसे) लौटकर आते हैं; **तस्मात् एते**=इसलिये ये; **प्रजाकामाः ऋषयः**=संतानकी कामनावाले ऋषिगण; **दक्षिणम् प्रतिपद्यन्ते**=दक्षिण (मार्ग) को प्राप्त होते हैं; **ह एषः वै रयिः**=निस्संदेह यही वह रयि है; **यः पितृयाणः**=जो 'पितृयान' नामक मार्ग है॥ ९ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें संवत्सरको परमात्माका प्रतीक बनाकर उसके अङ्गरूप रयिस्थानीय भोग्य-पदार्थोंके उद्देश्यसे की जानेवाली उपासना और उसका फल बताते हैं। भाव यह है कि बारह महीनोंका यह संवत्सररूप काल ही मानो सृष्टिके स्वामी परमेश्वरका स्वरूप है। इसके दो अयन हैं— दक्षिण और उत्तर। दक्षिणायनके जो छः महीने हैं, जिनमें सूर्य दक्षिणकी ओर घूमता है—ये मानो इसके दक्षिण अङ्ग हैं और उत्तरायणके छः महीने ही उत्तर अङ्ग हैं। उनमें उत्तर अङ्ग तो प्राण है, इस विश्वके आत्मारूप उस परमेश्वरका सर्वान्तर्यामी स्वरूप है और दक्षिण अङ्ग रयि अर्थात् उसका बाह्य

भोग्यस्वरूप है। इस जगत्‌में जो संतानकी कामनावाले ऋषि स्वर्गादि सांसारिक भोगोंमें आसक्त हैं, वे यज्ञादिद्वारा देवताओंका पूजन करना, ब्राह्मण एवं श्रेष्ठ पुरुषोंका धनादिसे सत्कार करना, दुःखी प्राणियोंकी सेवा करना आदि इष्टकर्म तथा कुँआ, बावली, तालाब, बगीचा, धर्मशाला, विद्यालय, औषधालय, पुस्तकालय आदि लोकोपकारी चिरस्थायी स्मारकोंकी स्थापना करना आदि पूर्तकर्मोंको उत्कृष्ट कर्तव्य समझते हैं और इनके फलस्वरूप इस लोक तथा परलोकके भोगोंके उद्देश्यसे इनकी उपासना अर्थात् विधिवत् अनुष्ठान करते हैं; यह उस संवत्सररूप परमेश्वरके दक्षिण अङ्गकी उपासना है। इसीको ईशावास्य-उपनिषद्‌में असम्भूतिकी उपासनाके नामसे देव, पितर, मनुष्य आदि शरीरोंकी सेवा बताया है। इसके प्रभावसे वे चन्द्रलोकको प्राप्त होते हैं और वहाँ अपने कर्मोंका फल भोगकर पुनः इस लोकमें लौट आते हैं; यही पितृयाण मार्ग है॥ ९॥

अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययाऽऽत्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते। एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्त इत्येष निरोधस्तदेष श्लोकः॥ १०॥

अथ=किंतु (जो); **तपसा**=तपस्याके साथ; **ब्रह्मचर्येण**=ब्रह्मचर्यपूर्वक (और); **श्रद्धया**=श्रद्धासे युक्त होकर; **विद्यया**=अध्यात्मविद्याके द्वारा, **आत्मानम्**=परमात्माकी; **अन्विष्य**=खोज करके (जीवन सार्थक करते हैं, वे); **उत्तरेण**=उत्तरायण-मार्गसे; **आदित्यम्**=सूर्यलोकको; **अभिजयन्ते**=जीत लेते हैं (प्राप्त करते हैं); **एतत् वै**=यह (सूर्य) ही; **प्राणानाम्**=प्राणोंका; **आयतनम्**=केन्द्र है; **एतत् अमृतम्**=यह अमृत (अविनाशी) (और); **अभयम्**=निर्भय पद है; **एतत् परायणम्**=यह परमगति है; **एतस्मात्**=इससे; **न पुनः आवर्तन्ते**=पुनः लौटकर नहीं आते; **इति एषः**=इस प्रकार यह; **निरोधः**=निरोध (पुनरावृत्तिका निवारक) है; **तत् एषः**=(इस बातको स्पष्ट करनेवाला) यह (अगला); **श्लोकः**=श्लोक है॥ १०॥

व्याख्या—उपर्युक्त सकाम उपासकोंसे भिन्न जो कल्याणकामी साधक हैं,

वे इन सांसारिक भोगोंकी अनित्यता और दुःखरूपताको समझकर इनसे सर्वथा विरक्त हो जाते हैं। वे श्रद्धापूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए संयमके साथ त्यागमय जीवन बिताते हैं और अध्यात्मविद्याके द्वारा अर्थात् परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले किसी भी अनुकूल साधनद्वारा सबके आत्मस्वरूप परब्रह्म परमेश्वरकी निष्काम उपासना करते हैं। यह मानो उस संवत्सररूप प्रजापतिके उत्तर अङ्गकी उपासना है। इसको ईशावास्य-उपनिषद्में सम्भूतिकी उपासना कहा है। इसके उपासक उत्तरायण-मार्गसे सूर्यलोकमें जाकर सूर्यके आत्मारूप परब्रह्म परमेश्वरको प्राप्त हो जाते हैं। यह सूर्य ही समस्त जगत्के प्राणोंका केन्द्र है। यही अमृत—अविनाशी और निर्भय पद है। यही परम गति है। इसे प्राप्त हुए महापुरुष फिर लौटकर नहीं आते। यह निरोध अर्थात् पुनर्जन्मको रोकनेवाला आत्यन्तिक प्रलय है। इस मन्त्रमें सूर्यको परमेश्वरका स्वरूप मानकर ही उपर्युक्त महिमा कही गयी है। इसी बातको अगले मन्त्रमें स्पष्ट किया गया है॥ १०॥

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्।
अथेमे अन्य उ परे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितमिति ॥ ११ ॥*

(कितने ही लोग तो इस सूर्यको); **पञ्चपादम्**=पाँच चरणोंवाला; **पितरम्**=सबका पिता; **द्वादशाकृतिम्**=बारह आकृतियोंवाला; **पुरीषिणम्**=जलका उत्पादक; **दिवः परे अर्धे**=(और) स्वर्गलोकसे भी ऊपरके स्थानमें (स्थित); **आहुः**=बतलाते हैं; **अथ इमे**=तथा ये; **अन्ये उ**=दूसरे कितने ही लोग; **इति आहुः**=ऐसा बतलाते हैं (कि यह); **परे**=विशुद्ध; **सप्तचक्रे**=सात पहियोंवाले (और); **षडरे**=छः अरोंवाले (रथमें); **अर्पितम्**=बैठा हुआ (एवं); **विचक्षणम्**=सबको भलीभाँति जाननेवाला है॥ ११॥

व्याख्या—परब्रह्म परमेश्वरके प्रत्यक्ष—दृष्टिगोचरस्वरूप इस सूर्यके विषयमें कितने ही तत्त्ववेत्ता तो यों कहते हैं कि इसके पाँच पैर हैं। अर्थात्

* यह मन्त्र अथर्ववेद काण्ड ९ सूक्त १४ का बारहवाँ तथा ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त १६४ का बारहवाँ है।

छः ऋतुओंमेंसे हेमन्त और शिशिर—इन दो ऋतुओंकी एकता करके पाँच ऋतुओंको वे इस सूर्यके पाँच चरण बतलाते हैं; तथा यह भी कहते हैं कि बारह महीने ही इसकी बारह आकृतियाँ अर्थात् बारह शरीर हैं। इसका स्थान स्वर्गलोकसे भी ऊँचा है। स्वर्गलोक भी इसीके आलोकसे प्रकाशित है। इस लोकमें जो जल बरसता है, उस जलकी उत्पत्ति इसीसे होती है। अतः सबको जलरूप जीवन प्रदान करनेवाला होनेसे यह सबका पिता है। दूसरे ज्ञानी पुरुषोंका कहना है कि लाल, पीले आदि सात रंगोंकी किरणोंसे युक्त तथा वसन्त आदि छः ऋतुओंके हेतुभूत इस विशुद्ध प्रकाशमय सूर्यमण्डलमें—जिसे सात चक्र एवं छः अरोंवाला रथ कहा गया है—बैठा हुआ इसका आत्मारूप, सबको भलीभाँति जाननेवाला सर्वज्ञ परमेश्वर ही उपास्य है। यह स्थूल नेत्रोंसे दिखायी देनेवाला सूर्यमण्डल उसका शरीर है। इसलिये यह उसीकी महिमा है ॥ ११ ॥

मासो वै प्रजापतिस्तस्य कृष्णपक्ष एव रयिः शुक्लः प्राण-स्तस्मादेत ऋषयः शुक्ल इष्टं कुर्वन्तीतर इतरस्मिन् ॥ १२ ॥

मासः वै=महीना ही; **प्रजापतिः**=प्रजापति है; **तस्य**=उसका; **कृष्णपक्षः एव**=कृष्णपक्ष ही; **रयिः**=रयि है (और); **शुक्लः प्राणः**=शुक्लपक्ष प्राण है; **तस्मात्**=इसलिये; **एते ऋषयः**=ये (कल्याणकामी) ऋषिगण; **शुक्ले**=शुक्लपक्षमें (निष्कामभावसे); **इष्टम्**=यज्ञादि कर्तव्य-कर्म; **कुर्वन्ति**=किया करते हैं (तथा); **इतरे**=दूसरे (जो सांसारिक भोगोंको चाहते हैं); **इतरस्मिन्**=दूसरे पक्षमें—कृष्णपक्षमें (सकामभावसे यज्ञादि शुभकर्मोंका अनुष्ठान किया करते हैं) ॥ १२ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें महीनेको प्रजापति परमेश्वरका रूप देकर कर्मों-द्वारा उसकी उपासना करनेका रहस्य बताया गया है। भाव यह है कि प्रत्येक महीना ही मानो प्रजापति है, उसमें कृष्णपक्षके पंद्रह दिन तो उस परमात्माका दाहिना अङ्ग हैं; इसे रयि (स्थूल भूत-समुदायका कारण) समझना चाहिये। यह उस परमेश्वरका शक्तिस्वरूप भोगमय रूप है और शुक्लपक्षके पंद्रह दिन

ही मानो उत्तर अङ्ग हैं। यही प्राण अर्थात् सबको जीवन प्रदान करनेवाले परमात्माका सर्वान्तर्यामी रूप है। इसलिये जो कल्याणकामी ऋषि हैं, अर्थात् जो रयिस्थानीय भोग-पदार्थोंसे विरक्त होकर प्राणस्थानीय सर्वात्मरूप परब्रह्मको चाहनेवाले हैं, वे अपने समस्त शुभकर्मोंको शुक्लपक्षमें करते हैं, अर्थात् शुक्लपक्षस्थानीय प्राणाधार परब्रह्म परमेश्वरके अर्पण करके करते हैं—स्वयं उसका कोई फल नहीं चाहते; यही गीतोक्त कर्मयोग है। इनसे भिन्न जो भोगासक्त मनुष्य हैं, वे कृष्णपक्षमें अर्थात् कृष्णपक्षस्थानीय स्थूल पदार्थोंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे सब प्रकारके कर्म किया करते हैं। इनका वर्णन गीतामें '**स्वर्गपराः**' के नामसे हुआ है (गीता २।४२—४४) ॥ १२ ॥

अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणो रात्रिरेव रयिः प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते ब्रह्मचर्यमेव तद्यद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते ॥ १३ ॥

अहोरात्रः वै=दिन और रातका जोड़ा ही; **प्रजापतिः**=प्रजापति है; **तस्य**=उसका; **अहः एव**=दिन ही; **प्राणः**=प्राण है (और); **रात्रिः एव**=रात्रि ही; **रयिः**=रयि है; **ये दिवा**=(अतः) जो दिनमें; **रत्या संयुज्यन्ते**=स्त्री-सहवास करते हैं; **एते**=ये लोग; **वै प्राणम्**=सचमुच अपने प्राणोंको ही; **प्रस्कन्दन्ति**=क्षीण करते हैं (तथा); **यत् रात्रौ**=जो रात्रिमें; **रत्या संयुज्यन्ते**=स्त्री-सहवास करता है; **तत् ब्रह्मचर्यम् एव**=वह ब्रह्मचर्य ही है ॥ १३ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें दिन और रात्रिरूप चौबीस घंटेके कालरूपमें परमेश्वरके स्वरूपकी कल्पना करके जीवनोपयोगी कर्मोंका रहस्य समझाया गया है। भाव यह है कि ये दिन और रात मिलकर जगत्पति परमेश्वरका पूर्णरूप हैं। उसका यह दिन तो मानो प्राण अर्थात् सबको जीवन देनेवाला प्रकाशमय विशुद्ध स्वरूप है और रात्रि ही भोगरूप रयि है। अतः जो मनुष्य दिनमें स्त्री-प्रसंग करते हैं अर्थात् परमात्माके विशुद्ध स्वरूपको प्राप्त करनेकी इच्छासे प्रकाशमय मार्गमें चलना प्रारम्भ करके भी स्त्री-प्रसंग आदि विलासमें आसक्त हो जाते हैं, वे अपने लक्ष्यतक न पहुँचकर इस अमूल्य जीवनको

व्यर्थ खो देते हैं। उनसे भिन्न जो सांसारिक उन्नति चाहनेवाले हैं, वे यदि शास्त्रके नियमानुसार ऋतुकालमें रात्रिके समय नियमानुकूल स्त्री-प्रसङ्ग करते हैं तो वे शास्त्रकी आज्ञाका पालन करनेके कारण ब्रह्मचारीके तुल्य ही हैं। लौकिक दृष्टिसे यों कह सकते हैं कि इस मन्त्रमें गृहस्थोंको दिनमें स्त्री-प्रसंग कदापि न करनेका और विहित रात्रियोंमें शास्त्रानुसार नियमित और संयमित-रूपमें केवल संतानकी इच्छासे स्त्री-सहवास करनेका उपदेश दिया गया है। तभी वह ब्रह्मचर्यकी गणनामें आ सकता है* ॥ १३ ॥

अन्नं वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्तस्मादिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥ १४ ॥

अन्नम् वै=अन्न ही; **प्रजापतिः**=प्रजापति है; **ह ततः वै**=क्योंकि उसीसे; **तत् रेतः**=वह वीर्य (उत्पन्न होता है); **तस्मात्**=उस वीर्यसे; **इमाः प्रजाः**=ये सम्पूर्ण चराचर प्राणी; **प्रजायन्ते इति**=उत्पन्न होते हैं ॥ १४ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें अन्नको प्रजापतिका स्वरूप बताकर अन्नकी महिमा बतलाते हुए कहते हैं कि यह सब प्राणियोंका आहाररूप अन्न ही प्रजापति है; क्योंकि इसीसे वीर्य उत्पन्न होता है और वीर्यसे समस्त चराचर प्राणी उत्पन्न होते हैं। इस कारण इस अन्नको भी प्रकारान्तरसे प्रजापति माना गया है ॥ १४ ॥

सम्बन्ध—*अब पहले बतलाये हुए दो प्रकारके साधकोंको मिलनेवाले पृथक्-पृथक् फलका वर्णन करते हैं—*

तद्ये ह वै तत्प्रजापतिव्रतं चरन्ति ते मिथुनमुत्पादयन्ते। तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

---

* रजोदर्शनके दिनसे लेकर सोलह दिनोंतक स्वाभाविक ऋतुकाल कहलाता है। इनमें पहली चार रात्रियाँ तथा ग्यारहवीं और तेरहवीं रात्रियाँ सर्वथा वर्जित हैं। शेष दस रात्रियोंमें पर्व (एकादशी, अमावस्या, पूर्णिमा, ग्रहण, व्यतिपात, संक्रान्ति, जन्माष्टमी, शिवरात्रि, रामनवमी आदि) दिनोंको छोड़कर पत्नीकी रतिकामनासे जो पुरुष महीनेमें केवल दो रात्रि स्त्री-सहवास करता है, वह गृहस्थाश्रममें रहता हुआ ही ब्रह्मचारी माना जाता है (मनुस्मृति ३।४५—४७, ५०)

तत् ये ह वै=जो कोई भी निश्चयपूर्वक; **तत् प्रजापतिव्रतम्**=उस प्रजापति-व्रतका; **चरन्ति**=अनुष्ठान करते हैं; **ते मिथुनम्**=वे जोड़ेको; **उत्पादयन्ते**=उत्पन्न करते हैं; **येषाम् तपः**=जिनमें तप (और); **ब्रह्मचर्यम्**=ब्रह्मचर्य (है); **येषु सत्यम्**=जिनमें सत्य; **प्रतिष्ठितम्**=प्रतिष्ठित है; **तेषाम् एव**=उन्हींको; **एषः ब्रह्मलोकः**=यह ब्रह्मलोक मिलता है ॥ १५ ॥

व्याख्या—जो लोग संतानोत्पत्तिरूप प्रजापतिके व्रतका अनुष्ठान करते हैं अर्थात् स्वर्गादि लोकोंके भोगकी प्राप्तिके लिये शास्त्रविहित शुभकर्मोंका आचरण करते हुए नियमानुसार स्त्री-प्रसङ्ग आदि भोगोंका उपभोग करते हैं, वे तो पुत्र और कन्यारूप जोड़ेको उत्पन्न करके प्रजाकी वृद्धि करते हैं और जो उनसे भिन्न हैं, जिनमें ब्रह्मचर्य और तप भरा हुआ है, जिनका जीवन सत्यमय है तथा जो सत्यस्वरूप परमेश्वरको अपने हृदयमें नित्य स्थित देखते हैं, उन्हींको वह ब्रह्मलोक (परमपद, परमगति) मिलता है, दूसरोंको नहीं ॥ १५ ॥

तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति ॥ १६ ॥

येषु न=जिनमें न तो; **जिह्मम्**=कुटिलता (और); **अनृतम्**=झूठ है; **च न**=तथा न; **माया**=माया (कपट) ही है; **तेषाम्**=उन्हींको; **असौ**=वह; **विरजः**=विकाररहित, विशुद्ध; **ब्रह्मलोकः इति**= ब्रह्मलोक (मिलता है) ॥ १६ ॥

व्याख्या—जिनमें कुटिलताका लेश भी नहीं है, जो स्वप्नमें भी मिथ्याभाषण नहीं करते और असत्यमय आचरणसे सदा दूर रहते हैं, जिनमें राग-द्वेषादि विकारोंका सर्वथा अभाव है, जो सब प्रकारके छल-कपटसे शून्य हैं, उन्हींको वह विकाररहित विशुद्ध ब्रह्मलोक मिलता है। जो इनसे विपरीत लक्षणोंवाले हैं, उनको नहीं मिलता ॥ १६ ॥

॥ प्रथम प्रश्न समाप्त ॥ १ ॥



द्वितीय प्रश्न

अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ। भगवन्कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते कतर एतत्प्रकाशयन्ते कः पुनरेषां वरिष्ठ इति ॥ १ ॥

अथ ह एनम्=इसके पश्चात् इन प्रसिद्ध (महात्मा पिप्पलाद) ऋषिसे; **वैदर्भिः भार्गवः**=विदर्भदेशीय भार्गवने; **पप्रच्छ**=पूछा; **भगवन्**=भगवन् !; **कति देवाः एव**=कुल कितने देवता; **प्रजां विधारयन्ते**=प्रजाको धारण करते हैं; **कतरे एतत्**=उनमेंसे कौन-कौन इसे; **प्रकाशयन्ते**=प्रकाशित करते हैं; **पुनः**=फिर (यह भी बतलाइये कि); **एषाम्**=इन सबमें; **कः**=कौन; **वरिष्ठः**= सर्वश्रेष्ठ है; **इति**=यही (मेरा प्रश्न है) ॥ १ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें भार्गव ऋषिने महर्षि पिप्पलादसे तीन बातें पूछी हैं—(१) प्रजाको यानी प्राणियोंके शरीरको धारण करनेवाले कुल कितने देवता हैं ? (२) उनमेंसे कौन-कौन इसको प्रकाशित करनेवाले हैं ? (३) इन सबमें अत्यन्त श्रेष्ठ कौन है ? ॥ १ ॥

तस्मै स होवाचाकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च। ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद्बाण-मवष्टभ्य विधारयामः ॥ २ ॥

सः ह=उन प्रसिद्ध महर्षि (पिप्पलाद) ने; **तस्मै उवाच**=उन भार्गवसे कहा; **ह आकाशः वै**=निश्चय ही वह प्रसिद्ध आकाश; **एषः देवः**=यह देवता है (तथा); **वायुः**=वायु; **अग्निः**=अग्नि; **आपः**=जल; **पृथिवी**=पृथिवी; **वाक्**=वाणी (कर्मेन्द्रियाँ); **चक्षुः च श्रोत्रम् मनः**=नेत्र और श्रोत्र (ज्ञानेन्द्रियाँ) तथा मन (अन्तःकरण) भी [देवता है]; **ते प्रकाश्य**=वे सब अपनी-अपनी शक्ति प्रकट करते; **अभिवदन्ति**=अभिमानपूर्वक कहने लगे; **वयम् एतत् बाणम्**=हमने इस शरीरको; **अवष्टभ्य**=आश्रय देकर; **विधारयामः**=धारण कर रखा है ॥ २ ॥

व्याख्या—इस प्रकार भार्गवके पूछनेपर महर्षि पिप्पलाद उत्तर देते हैं।

यहाँ दो प्रश्नोंका उत्तर एक ही साथ दे दिया गया है। वे कहते हैं कि सबका आधार तो वैसे आकाशरूप देवता ही है; परन्तु उससे उत्पन्न होनेवाले वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये चारों महाभूत भी शरीरको धारण किये रहते हैं। यह स्थूल शरीर इन्हींसे बना है। इसलिये ये धारक देवता हैं। वाणी आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ, नेत्र और कान आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं मन आदि चार अन्तःकरण—ये चौदह देवता इस शरीरके प्रकाशक हैं। ये देवता देहको धारण और प्रकाशित करते हैं, इसलिये ये धारक और प्रकाशक देवता कहलाते हैं। ये इस देहको प्रकाशित करके आपसमें झगड़ पड़े और अभिमानपूर्वक परस्पर कहने लगे कि 'हमने शरीरको आश्रय देकर धारण कर रखा है' ॥ २ ॥

तान्वरिष्ठः प्राण उवाच। मा मोहमापद्यथाहमेवैतत्पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामीति तेऽश्रद्दधाना बभूवुः ॥ ३ ॥

तान्=उनसे; **वरिष्ठः प्राणः**=सर्वश्रेष्ठ प्राण; **उवाच**=बोला; **मोहम्**=(तुमलोग) मोहमें; **मा आपद्यथ**=न पड़ो; **अहम् एव**=मैं ही; **एतत् आत्मानम्**=अपने इस स्वरूपको; **पञ्चधा प्रविभज्य**=पाँच भागोंमें विभक्त करके; **एतद् बाणम्**=इस शरीरको; **अवष्टभ्य**=आश्रय देकर; **विधारयामि**=धारण करता हूँ; **इति ते**=यह (सुनकर भी) वे; **अश्रद्दधानाः**=अविश्वासी ही; **बभूवुः**=बने रहे ॥ ३ ॥

व्याख्या—इस प्रकार जब सम्पूर्ण महाभूत, इन्द्रियाँ और अन्तःकरण-रूप देवता परस्पर विवाद करने लगे, तब सर्वश्रेष्ठ प्राणने उनसे कहा—'तुमलोग अज्ञानवश आपसमें विवाद मत करो; तुममेंसे किसीमें भी इस शरीरको धारण करने या सुरक्षित रखनेकी शक्ति नहीं है। इसे तो मैंने ही अपनेको (प्राण, अपान, समान, व्यान और उदानरूप) पाँच भागोंमें विभक्त करके आश्रय देते हुए धारण कर रखा है और मुझसे ही यह सुरक्षित है।' प्राणकी यह बात सुनकर भी उन देवताओंने उसपर विश्वास नहीं किया, वे

अविश्वासी ही बने रहे ॥ ३ ॥

सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते तस्मिँश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्ते। तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिँश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्त एवं वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति ॥ ४ ॥

सः=(तब) वह प्राण; **अभिमानात्**=अभिमानपूर्वक; **ऊर्ध्वम् उत्क्रमते एव**=मानो (उस शरीरसे) ऊपरकी ओर बाहर निकलने लगा; **तस्मिन् उत्क्रामति**=उसके बाहर निकलनेपर; **अथ इतरे सर्वे एव**=उसीके साथ-ही-साथ अन्य सब भी; **उत्क्रामन्ते**=शरीरसे बाहर निकलने लगे; **च**=और; **तस्मिन् प्रतिष्ठमाने**=उसके ठहर जानेपर; **सर्वे एव प्रातिष्ठन्ते**=दूसरे सब देवता भी ठहर गये; **तत् यथा**=तब जैसे (मधुके छत्तेसे); **मधुकरराजानम्**=मधुमक्खियोंके राजाके; **उत्क्रामन्तम्**=निकलनेपर (उसीके साथ-साथ); **सर्वाः एव**=सारी ही; **मक्षिकाः**=मधुमक्खियाँ; **उत्क्रामन्ते**=बाहर निकल जाती हैं; **च तस्मिन्**=और उसके; **प्रतिष्ठमाने**=बैठ जानेपर; **सर्वाः एव**=सब-की-सब; **प्रातिष्ठन्ते**=बैठ जाती हैं; **एवम्**=ऐसी ही दशा (इन सबकी हुई); **वाक् चक्षुः श्रोत्रम् च मनः**=अतः वाणी, नेत्र, श्रोत्र और मन; **ते**=वे (सभी); **प्रीताः प्राणम् स्तुन्वन्ति**=प्राणकी श्रेष्ठताका अनुभव करके प्रसन्न होकर प्राणकी स्तुति करने लगे ॥ ४ ॥

व्याख्या—तब उनको अपना प्रभाव दिखलाकर सावधान करनेके लिये वह सर्वश्रेष्ठ प्राण अभिमानमें ठेस लगनेसे मानो रूठकर इस शरीरसे बाहर निकलनेके लिये ऊपरकी ओर उठने लगा। फिर तो सब-के-सब देवता विवश होकर उसीके साथ बाहर निकलने लगे; कोई भी स्थिर नहीं रह सका। जब वह अपने स्थानपर स्थित हो गया, तब अन्य सब भी स्थित हो गये। जैसे मधुमक्खियोंका राजा जब अपने स्थानसे उड़ता है, तब उसके साथ ही वहाँ बैठी हुई अन्य सब मधुमक्खियाँ भी उड़ जाती हैं और जब वह बैठ जाता है

तब अन्य सब भी बैठ जाती हैं, ऐसी ही दशा इन सब वागादि देवताओंकी भी हुई। यह देखकर वाणी, चक्षु, श्रोत्र आदि सब इन्द्रियोंको और मन आदि अन्तःकरणकी वृत्तियोंको भी यह विश्वास हो गया कि हम सबमें प्राण ही श्रेष्ठ है; अतः वे सब प्रसन्नतापूर्वक निम्न प्रकारसे प्राणकी स्तुति करने लगे॥ ४॥

सम्बन्ध—*प्राणको ही परब्रह्म परमेश्वरका स्वरूप मानकर उपासना करनेके लिये उसका सर्वात्मरूपसे महत्त्व बतलाया जाता है*—*

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायुः।
एष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत्॥ ५॥

एषः अग्निः तपति=यह प्राण अग्निरूपसे तपता है; **एषः सूर्यः**=यही सूर्य है; **एषः पर्जन्यः**=यही मेघ है; **[एषः] मघवान्**=यही इन्द्र है; **एषः वायुः**=यही वायु है (तथा); **एषः देवः**=यह प्राणरूप देव ही; **पृथिवी**=पृथ्वी (एवं); **रयिः**=रयि है (तथा); **यत्**=जो कुछ; **सत्**=सत्; **च**=और; **असत्**=असत् है; **च**=तथा; **[यत्]**=जो; **अमृतम्**=अमृत कहा जाता है (वह भी प्राण ही है)॥ ५॥

व्याख्या—वे वाणी आदि सब देवता स्तुति करते हुए बोले—यह प्राण ही अग्निरूप धारण करके तपता है और यही सूर्य है, यही मेघ, इन्द्र और वायु है। यही देव, पृथ्वी और रयि (भूतसमुदाय) है तथा सत् और असत् एवं उससे भी श्रेष्ठ जो अमृतस्वरूप परमात्मा है, वह भी यह प्राण ही है॥ ५॥

अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
ऋचो यजूँषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च॥ ६॥

रथनाभौ=रथके पहियेकी नाभिमें लगे हुए; **अराः इव**=अरोंकी भाँति; **ऋचः**=ऋग्वेदकी सम्पूर्ण ऋचाएँ; **यजूंषि**=यजुर्वेदके मन्त्र (तथा); **सामानि**=सामवेदके मन्त्र; **यज्ञः च**=यज्ञ और; **ब्रह्म क्षत्रम्**=(यज्ञ करनेवाले) ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि अधिकारिवर्ग; **सर्वम्**=ये सब-के-सब; **प्राणे**=(इस) प्राणमें;

* इस विषयका वर्णन अथर्ववेद काण्ड ११ सू० ४ में विस्तारपूर्वक आया है।

प्रतिष्ठितम्=प्रतिष्ठित हैं ॥ ६ ॥

व्याख्या—जिस प्रकार रथके पहियेकी नाभिमें लगे हुए अरे नाभिके ही आश्रित रहते हैं, उसी प्रकार ऋग्वेदकी सब ऋचाएँ, यजुर्वेदके समस्त मन्त्र, सब-का-सब सामवेद, उनके द्वारा सिद्ध होनेवाले यज्ञादि शुभकर्म और यज्ञादि शुभकर्म करनेवाले ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि अधिकारिवर्ग— ये सब-के-सब प्राणके आधारपर ही टिके हुए हैं; सबका आश्रय प्राण ही है ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—*इस प्रकार प्राणका महत्त्व बतलाकर अब उसकी स्तुति की जाती है—*

प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे। तुभ्यं प्राण प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि ॥ ७ ॥

प्राण=हे प्राण !; **त्वम् एव**=तू ही; **प्रजापतिः**=प्रजापति है; **[त्वम् एव]**=तू ही; **गर्भे चरसि**=गर्भमें विचरता है; **प्रतिजायसे**=(और तू ही) माता-पिताके अनुरूप होकर जन्म लेता है; **तु**=निश्चय ही; **इमाः**=ये सब; **प्रजाः**=प्राणी; **तुभ्यम्**=तुझे; **बलिम् हरन्ति**=भेंट समर्पण करते हैं; **यः**=जो तू; **प्राणैः प्रतितिष्ठसि**=(अपानादि अन्य) प्राणोंके साथ-साथ स्थित हो रहा है ॥ ७ ॥

व्याख्या—हे प्राण ! तू ही प्रजापति (प्राणियोंका ईश्वर) है, तू ही गर्भमें विचरनेवाला और माता-पिताके अनुरूप संतानके रूपमें जन्म लेनेवाला है। ये सब जीव तुझे ही भेंट समर्पण करते हैं। भाव यह कि तुम्हारी तृप्तिके लिये ही अन्न भक्षण आदि कर रहे हैं। तू ही अपानादि सब प्राणोंके सहित सबके शरीरमें स्थित हो रहा है ॥ ७ ॥

देवानामसि वह्नितमः पितॄणां प्रथमा स्वधा।
ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसामसि ॥ ८ ॥

(हे प्राण !) **देवानाम्**=(तू) देवताओंके लिये; **वह्नितमः**=उत्तम अग्नि; **असि**=है; **पितॄणाम्**=पितरोंके लिये; **प्रथमा स्वधा**=पहली स्वधा है; **अथर्वाङ्गिरसाम्**=अथर्वाङ्गिरस आदि; **ऋषीणाम्**=ऋषियोंके द्वारा; **चरितम्**=आचरित; **सत्यम्**=सत्य; **असि**=है ॥ ८ ॥

व्याख्या—हे प्राण ! तू ही देवताओंके लिये हवि पहुँचानेवाला उत्तम

अग्नि है। पितरोंके लिये पहली स्वधा है। अथर्वाङ्गिरस आदि ऋषियोंके द्वारा आचरित (अनुभूत) सत्य भी तू ही है ॥ ८ ॥

इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता।
त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः ॥ ९ ॥

प्राण=हे प्राण!; **त्वम् तेजसा**=तू तेजसे (सम्पन्न); **इन्द्रः**=इन्द्र; **रुद्रः**=रुद्र (और); **परिरक्षिता**=रक्षा करनेवाला; **असि**=है; **त्वम्**=तू ही; **अन्तरिक्षे**=अन्तरिक्षमें; **चरसि**=विचरता है (और); **त्वम्**=तू ही; **ज्योतिषाम् पतिः**=समस्त ज्योतिर्गणोंका स्वामी; **सूर्यः**=सूर्य है ॥ ९ ॥

व्याख्या—हे प्राण! तू सब प्रकारके तेज (शक्तियों) से सम्पन्न तीनों लोकोंका स्वामी इन्द्र है। तू ही प्रलयकालमें सबका संहार करनेवाला रुद्र है और तू ही सबकी भलीभाँति यथायोग्य रक्षा करनेवाला है। तू ही अन्तरिक्षमें (पृथ्वी और स्वर्गके बीचमें) विचरनेवाला वायु है तथा तू ही अग्नि, चन्द्र, तारे आदि समस्त ज्योतिर्गणोंका स्वामी सूर्य है ॥ ९ ॥

यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राण ते प्रजाः।
आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यतीति ॥ १० ॥

प्राण=हे प्राण!; **यदा त्वम्**=जब तू; **अभिवर्षसि**=भलीभाँति वर्षा करता है; **अथ**=उस समय; **ते इमाः प्रजाः**=तेरी यह सम्पूर्ण प्रजा; **कामाय**=यथेष्ट; **अन्नम्**=अन्न; **भविष्यति**=उत्पन्न होगा; **इति**=यह समझकर; **आनन्दरूपाः**=आनन्दमय; **तिष्ठन्ति**=हो जाती है ॥ १० ॥

व्याख्या—हे प्राण! जब तू मेघरूप होकर पृथ्वीलोकमें सब ओर वर्षा करता है, तब तेरी यह सम्पूर्ण प्रजा 'हमलोगोंके जीवन-निर्वाहके लिये यथेष्ट अन्न उत्पन्न होगा'—ऐसी आशा करती हुई आनन्दमें मग्न हो जाती है ॥ १० ॥

व्रात्यस्त्वं प्राणैकर्षिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः।
वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्व नः ॥ ११ ॥

प्राण=हे प्राण!; **त्वम्**=तू; **व्रात्यः**=संस्काररहित (होते हुए भी);

एकर्षिः=एकमात्र सर्वश्रेष्ठ ऋषि है (तथा); **वयम्**=हमलोग (तेरे लिये); **आद्यस्य**=भोजनको; **दातारः**=देनेवाले हैं (और तू); **अत्ता**=भोक्ता (खानेवाला) है; **विश्वस्य**=समस्त जगत्‌का; **सत्पतिः**=(तू ही) श्रेष्ठ स्वामी है; **मातरिश्व**=हे आकाशमें विचरनेवाले प्राण !; **त्वम्**=तू; **नः**=हमारा; **पिता**=पिता है ॥ ११ ॥

व्याख्या—हे प्राण ! तू संस्काररहित होकर भी एकमात्र सर्वश्रेष्ठ ऋषि है। तात्पर्य यह कि तू स्वभावसे ही शुद्ध है, अतः तुझे संस्कारद्वारा शुद्धिकी आवश्यकता नहीं है; प्रत्युत तू ही सबको पवित्र करनेवाला एकमात्र सर्वश्रेष्ठ ऋषि है। हमलोग (सब इन्द्रियाँ और मन आदि) तेरे लिये नाना प्रकारकी भोजन-सामग्री अर्पण करनेवाले हैं और तू उसे खानेवाला है। तू ही समस्त विश्वका उत्तम स्वामी है। हे आकाशचारी समष्टिवायुस्वरूप प्राण ! तू हमारा पिता है; क्योंकि तुझीसे हम सबकी उत्पत्ति हुई है ॥ ११ ॥

या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि।
या च मनसि सन्तता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः ॥ १२ ॥

(हे प्राण !) **या ते तनूः**=जो तेरा स्वरूप; **वाचि**=वाणीमें; **प्रतिष्ठिता**=स्थित है; **च**=तथा; **या श्रोत्रे**=जो श्रोत्रमें; **या चक्षुषि**=जो चक्षुमें; **च**=और; **या मनसि**=जो मनमें; **सन्तता**=व्याप्त है; **ताम्**=उसको; **शिवाम्**=कल्याणमय; **कुरु**=बना ले; **मा उत्क्रमीः**=(तू) उत्क्रमण न कर ॥ १२ ॥

व्याख्या—हे प्राण ! जो तेरा स्वरूप वाणी, श्रोत्र, चक्षु आदि समस्त इन्द्रियोंमें और मन आदि अन्तःकरणकी वृत्तियोंमें व्याप्त है, उसे तू कल्याणमय बना ले। अर्थात् तुझमें जो हमें सावधान करनेके लिये आवेश आया है, उसे शान्त कर ले और तू शरीरसे उठकर बाहर न जा। यह हमलोगोंकी प्रार्थना है ॥ १२ ॥

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्।
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति ॥ १३ ॥

इदम्=यह प्रत्यक्ष दीखनेवाला जगत् (और); **यत् त्रिदिवे**=जो कुछ स्वर्गलोकमें; **प्रतिष्ठितम्**=स्थित है; **सर्वम्**=वह सब-का-सब; **प्राणस्य**=

प्राणके; **वशे**=अधीन है (हे प्राण !); **माता पुत्रान् इव**=जैसे माता अपने पुत्रोंकी रक्षा करती है, उसी प्रकार (तू हमारी); **रक्षस्व**=रक्षा कर; **च**= तथा; **नः श्रीः च**=हमें कान्ति और; **प्रज्ञाम्**=बुद्धि; **विधेहि**=प्रदान कर; **इति**=इस प्रकार यह दूसरा प्रश्न समाप्त हुआ ॥ १३ ॥

व्याख्या—प्रत्यक्ष दीखनेवाले इस लोकमें जितने भी पदार्थ हैं और जो कुछ स्वर्गमें स्थित हैं, वे सब-के-सब इस प्राणके ही अधीन हैं। यह सोचकर वे इन्द्रियादि देवगण अन्तमें प्राणसे प्रार्थना करते हैं— 'हे प्राण ! जिस प्रकार माता अपने पुत्रोंकी रक्षा करती है, उसी प्रकार तू हमारी रक्षा कर तथा तू हमलोगोंको श्री—कान्ति अर्थात् कार्य करनेकी शक्ति और प्रज्ञा (ज्ञान) प्रदान कर।'

इस प्रकार इस प्रकरणमें भार्गव ऋषिद्वारा पूछे हुए तीन प्रश्नोंका उत्तर देते हुए महर्षि पिप्पलादने यह बात समझायी कि समस्त प्राणियोंके शरीरोंको अवकाश देकर बाहर और भीतरसे धारण करनेवाला आकाश-तत्त्व है। साथ ही इस शरीरके अवयवोंकी पूर्ति करनेवाले वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये चार तत्त्व हैं। दस इन्द्रियाँ और अन्तःकरण—ये इसको प्रकाश देकर क्रियाशील बनानेवाले हैं। इन सबसे श्रेष्ठ प्राण है। अतएव प्राण ही वास्तवमें इस शरीरको धारण करनेवाला है, प्राणके बिना शरीरको धारण करनेकी शक्ति किसीमें नहीं है। अन्य सब इन्द्रिय आदिमें इसीकी शक्ति अनुस्यूत है, इसीकी शक्ति पाकर वे शरीरको धारण करते हैं। इसी प्रकार प्राणकी श्रेष्ठताका वर्णन छान्दोग्य-उपनिषद्के पाँचवें अध्यायके आरम्भमें और बृहदारण्यक-उपनिषद्के छठे अध्यायके आरम्भमें भी आया है। इस प्रकरणमें प्राणकी स्तुतिका प्रसङ्ग अधिक है ॥ १३ ॥

द्वितीय प्रश्न समाप्त ॥ २ ॥



तृतीय प्रश्न

अथ हैनं कौसल्यश्चाश्वलायनः पप्रच्छ भगवन्कुत एष प्राणो जायते कथमायात्यस्मिञ्शरीर आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रातिष्ठते केनोत्क्रमते कथं बाह्यमभिधत्ते कथमध्यात्ममिति ॥ १ ॥

अथ ह एनम्=उसके बाद इन प्रसिद्ध महात्मा (पिप्पलाद) से; **कौसल्यः आश्वलायनः**=कोसलदेशीय आश्वलायनने; **च**=भी; **पप्रच्छ**=पूछा; **भगवन्**=भगवन् !; **एषः प्राणः**=यह प्राण; **कुतः जायते**=किससे उत्पन्न होता है; **अस्मिन् शरीरे**=इस शरीरमें; **कथम् आयाति**=कैसे आता है; **वा आत्मानम्**=तथा अपनेको; **प्रविभज्य**=विभाजित करके; **कथम् प्रातिष्ठते**=किस प्रकार स्थित होता है; **केन उत्क्रमते**=किस ढंगसे उत्क्रमण करता—शरीरसे बाहर निकलता है; **कथम् बाह्यम्**=किस प्रकार बाह्य जगत्को; **अभिधत्ते**=भलीभाँति धारण करता है (और); **कथम् अध्यात्मम्**=किस प्रकार मन और इन्द्रिय आदि शरीरके भीतर रहनेवाले जगत्को; **इति**=यही (मेरा प्रश्न है) ॥ १ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें आश्वलायन मुनिने महर्षि पिप्पलादसे कुल छः बातें पूछी हैं—(१) जिस प्राणकी महिमाका आपने वर्णन किया, वह प्राण किससे उत्पन्न होता है ? (२) वह इस मनुष्य-शरीरमें कैसे प्रवेश करता है ? (३) अपनेको विभाजित करके किस प्रकार शरीरमें स्थित रहता है ? (४) एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें जाते समय पहले शरीरसे किस प्रकार निकलता है ? (५) इस बाह्य (पाञ्चभौतिक) जगत्को किस प्रकार धारण करता है ? तथा (६) मन और इन्द्रिय आदि आध्यात्मिक (आन्तरिक) जगत्को किस प्रकार धारण करता है ? यहाँ प्राणके विषयमें वे ही बातें पूछी गयी हैं, जिनका वर्णन पहले उत्तरमें नहीं आया है और जो पहले प्रश्नके उत्तरको सुनकर ही स्फुरित हुई हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रश्नोत्तरके समय सुकेशादि छहों ऋषि वहाँ साथ-साथ बैठे सुन रहे थे ॥ १ ॥

तस्मै स होवाचातिप्रश्नान्पृच्छसि ब्रह्मिष्ठोऽसीति तस्मात्तेऽहं ब्रवीमि ॥ २ ॥

तस्मै सः ह उवाच=उससे उन प्रसिद्ध महर्षिने कहा; **अतिप्रश्नान् पृच्छसि**=तू बड़े कठिन प्रश्न पूछ रहा है (किंतु); **ब्रह्मिष्ठः असि इति**=वेदोंको अच्छी तरह जाननेवाला है; **तस्मात्**=अतः; **अहम्**=मैं; **ते**=तेरे; **ब्रवीमि**= प्रश्नोंका उत्तर देता हूँ ॥ २ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें महर्षि पिप्पलादने आश्वलायन मुनिके प्रश्नोंको कठिन बतलाकर उनकी बुद्धिमत्ता और तर्कशीलताकी प्रशंसा की है और साथ ही यह भाव भी दिखलाया है कि 'तू जिस ढंगसे पूछ रहा है, उसे देखते हुए तो मुझे तेरे प्रश्नोंका उत्तर नहीं देना चाहिये। परंतु मैं जानता हूँ कि तू तर्कबुद्धिसे नहीं पूछ रहा है, तू श्रद्धालु है, वेदोंमें निष्णात है; अतः मैं तेरे प्रश्नोंका उत्तर दे रहा हूँ' ॥ २ ॥

आत्मन एष प्राणो जायते यथैषा पुरुषे छायैतस्मिन्नेत-दाततं मनोकृतेनायात्यस्मिञ्शरीरे ॥ ३ ॥

एषः प्राणः=यह प्राण; **आत्मनः**=परमात्मासे; **जायते**=उत्पन्न होता है; **यथा**=जिस प्रकार; **एषा छाया**=यह छाया; **पुरुषे**=पुरुषके होनेपर (ही होती है); **[तथा]**=उसी प्रकार; **एतत्**=यह (प्राण); **एतस्मिन्**=इस (परमात्मा) के ही; **आततम्**=आश्रित है (और); **अस्मिन् शरीरे**=इस शरीरमें; **मनोकृतेन**=मनके किये हुए (संकल्प) से; **आयाति**=आता है ॥ ३ ॥

व्याख्या—यहाँ महर्षि पिप्पलादने क्रमसे आश्वलायन ऋषिके दो प्रश्नोंका उत्तर दिया है। पहले प्रश्नका उत्तर तो यह है कि जिसका प्रकरण चल रहा है, वह सर्वश्रेष्ठ प्राण परमात्मासे उत्पन्न हुआ है। (मु० उ० २। ३) वह परब्रह्म परमेश्वर ही इसका उपादानकारण है और वही इसकी रचना करनेवाला है; अतः इसकी स्थिति उस सर्वात्मा महेश्वरके अधीन—उसीके आश्रित है—ठीक उसी प्रकार जैसे किसी मनुष्यकी छाया उसके अधीन रहती है। दूसरे प्रश्नका उत्तर यह है कि मनद्वारा किये हुए संकल्पसे वह शरीरमें प्रवेश

करता है। भाव यह है कि मरते समय प्राणीके मनमें उसके कर्मानुसार जैसा संकल्प होता है, उसे वैसा ही शरीर मिलता है, अतः प्राणोंका शरीरमें प्रवेश मनके संकल्पसे ही होता है ॥ ३ ॥

सम्बन्ध—*अब आश्वलायनके तीसरे प्रश्नका उत्तर विस्तारपूर्वक आरम्भ किया जाता है*—

यथा सम्राडेवाधिकृतान्विनियुङ्क्ते एतान्ग्रामानेतान्ग्रामानधितिष्ठस्वेत्येवमेवैष प्राण इतरान् प्राणान्पृथक्पृथगेव संनिधत्ते ॥ ४ ॥

यथा=जिस प्रकार; **सम्राट् एव**=चक्रवर्ती महाराज स्वयं ही; **एतान् ग्रामान् एतान् ग्रामान् अधितिष्ठस्व**=इन गाँवोंमें तुम रहो, इन गाँवोंमें तुम रहो; **इति**=इस प्रकार; **अधिकृतान्**=अधिकारियोंको; **विनियुङ्क्ते**=अलग-अलग नियुक्त करता है; **एवम् एव**=उसी प्रकार; **एषः प्राणः**=यह मुख्य प्राण; **इतरान्**=दूसरे; **प्राणान्**=प्राणोंको; **पृथक् पृथक् एव**=पृथक्-पृथक् ही; **संनिधत्ते**=स्थापित करता है ॥ ४ ॥

व्याख्या—यहाँ महर्षि उदाहरणद्वारा तीसरे प्रश्नका समाधान करते हुए कहते हैं—'जिस प्रकार भूमण्डलका चक्रवर्ती सम्राट् भिन्न-भिन्न ग्राम, मण्डल और जनपद आदिमें पृथक्-पृथक् अधिकारियोंकी नियुक्ति करता है और उनका कार्य बाँट देता है, उसी प्रकार यह सर्वश्रेष्ठ प्राण भी अपने अङ्गस्वरूप अपान, व्यान आदि दूसरे प्राणोंको शरीरके पृथक्-पृथक् स्थानोंमें पृथक्-पृथक् कार्यके लिये नियुक्त कर देता है ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—*अब मुख्य प्राण, अपान और समान—इन तीनोंका वासस्थान और कार्य बतलाया जाता है*—

पायूपस्थेऽपानं चक्षुः श्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते मध्ये तु समानः। एष ह्येतद्धुतमन्नं समं नयति तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति ॥ ५ ॥

प्राणः=(वह) प्राण; **पायूपस्थे**=गुदा और उपस्थमें; **अपानम् [नियुङ्क्ते]**=अपानको रखता है; **स्वयम्**=स्वयं; **मुखनासिकाभ्याम्**=मुख और नासिकाद्वारा (विचरता हुआ); **चक्षुःश्रोत्रे**=नेत्र और श्रोत्रमें; **प्रातिष्ठते**=स्थित रहता है; **तु मध्ये**=और शरीरके मध्यभागमें; **समानः**=समान (रहता) है; **एषः हि**=यह (समान वायु) ही; **एतत् हुतम् अन्नम्**=इस प्राणाग्निमें हवन किये हुए अन्नको; **समम् नयति**=समस्त शरीरमें यथायोग्य समभावसे पहुँचाता है; **तस्मात्**=उससे; **एताः सप्त**=ये सात; **अर्चिषः**=ज्वालाएँ (विषयोंको प्रकाशित करनेवाले ऊपरके द्वार); **भवन्ति**=उत्पन्न होती हैं ॥ ५ ॥

व्याख्या—यह स्वयं तो मुख और नासिकाद्वारा विचरता हुआ नेत्र और श्रोत्रमें स्थित रहता है तथा गुदा और उपस्थमें अपानको स्थापित करता है। उसका काम मल-मूत्रको शरीरके बाहर निकाल देना है; रज, वीर्य और गर्भको बाहर करना भी इसीका काम है। शरीरके मध्यभाग—नाभिमें समानको रखता है। यह समान वायुको ही प्राणरूप अग्निमें हवन किये हुए—उदरमें डाले हुए अन्नको अर्थात् उसके सारको सम्पूर्ण शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंमें यथायोग्य समभावसे पहुँचाता है। उस अन्नके सारभूत रससे ही इस शरीरमें ये सात ज्वालाएँ अर्थात् समस्त विषयोंको प्रकाशित करनेवाले दो नेत्र, दो कान, दो नासिकाएँ और एक मुख (रसना)—ये सात द्वार उत्पन्न होते हैं; उस रससे पुष्ट होकर ही ये अपना-अपना कार्य करनेमें समर्थ होते हैं ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—*अब व्यानकी गतिका वर्णन किया जाता है—*

हृदि ह्येष आत्मा अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति ॥ ६ ॥

एषः हि=यह प्रसिद्ध; **आत्मा**=जीवात्मा; **हृदि**=हृदयदेशमें रहता है; **अत्र**=इस (हृदय) में; **एतत्**=यह; **नाडीनाम् एकशतम्**=मूलरूपसे एक सौ नाडियोंका समुदाय है; **तासाम्**=उनमेंसे; **एकैकस्याम्**=एक-एक नाडीमें; **शतम् शतम्**=एक-एक सौ (शाखाएँ) हैं (प्रत्येक शाखा-नाडीकी);

द्वासप्ततिः द्वासप्ततिः=बहत्तर-बहत्तर; **प्रतिशाखानाडीसहस्राणि**=हजार प्रतिशाखानाडियाँ; **भवन्ति**=होती हैं; **आसु**=इनमें; **व्यानः**=व्यानवायु; **चरति**=विचरण करता है ॥ ६ ॥

व्याख्या—इस शरीरमें जो हृदयप्रदेश है, जो जीवात्माका निवासस्थान है, उसमें एक सौ मूलभूत नाडियाँ हैं; उनमेंसे प्रत्येक नाडीकी एक-एक सौ शाखा-नाडियाँ हैं और प्रत्येक शाखा-नाडीकी बहत्तर-बहत्तर हजार प्रतिशाखा-नाडियाँ हैं। इस प्रकार इस शरीरमें कुल बहत्तर करोड़ नाडियाँ हैं; इन सबमें व्यानवायु विचरण करता है ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—*अब उदानका स्थान और कार्य बतलाते हैं, साथ ही आश्वलायनके चौथे प्रश्नका उत्तर भी देते हैं—*

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ॥ ७ ॥

अथ=तथा; **एकया**=जो एक नाडी और है, उसके द्वारा; **उदानः ऊर्ध्वः**=उदानवायु ऊपरकी ओर; **[चरति]**=विचरता है; **[सः] पुण्येन**=वह पुण्यकर्मोंके द्वारा; **[मनुष्यम्]**=मनुष्यको; **पुण्यम् लोकम्**=पुण्यलोकोंमें; **नयति**=ले जाता है; **पापेन**=पापकर्मोंके कारण (उसे); **पापम् [नयति]**=पापयोनियोंमें ले जाता है (तथा); **उभाभ्याम् एव**=पाप और पुण्य दोनों प्रकारके कर्मोंद्वारा (जीवको); **मनुष्यलोकम्**=मनुष्य-शरीरमें; **[नयति]**=ले जाता है ॥ ७ ॥

व्याख्या—इन ऊपर बतलायी हुई बहत्तर करोड़ नाड़ियोंसे भिन्न एक नाडी और है जिसको 'सुषुम्णा' कहते हैं, जो हृदयसे निकलकर ऊपर मस्तकमें गयी है। उसके द्वारा उदानवायु शरीरमें ऊपरकी ओर विचरण करता है। (इस प्रकार आश्वलायनके तीसरे प्रश्नका समाधान करके अब महर्षि उसके चौथे प्रश्नका उत्तर संक्षेपमें देते हैं—) जो मनुष्य पुण्यशील होता है, जिसके शुभकर्मोंके भोग उदय हो जाते हैं, उसे यह उदानवायु ही अन्य सब प्राण और इन्द्रियोंके सहित वर्तमान शरीरसे निकालकर पुण्यलोकोंमें अर्थात् स्वर्गादि

उच्च लोकोंमें ले जाता है। पापकर्मोंसे युक्त मनुष्यको शूकर-कूकर आदि पाप-योनियोंमें और रौरवादि नरकोंमें ले जाता है तथा जो पाप और पुण्य—दोनों प्रकारके कर्मोंका मिश्रित फल भोगनेके लिये अभिमुख हुए रहते हैं, उनको मनुष्य-शरीरमें ले जाता है* ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—*अब दो मन्त्रोंमें आश्वलायनके पाँचवें और छठे प्रश्नका उत्तर देते हुए जीवात्माके प्राण और इन्द्रियोंसहित एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जानेकी बात भी स्पष्ट करते हैं—*

आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः। पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्यान्तरा यदाकाशः स समानो वायुर्व्यानः ॥ ८ ॥

ह=यह निश्चय है कि; **आदित्यः वै**=सूर्य ही; **बाह्यः प्राणः**=बाह्य प्राण है; **एषः हि**=यही; **एनम् चाक्षुषम्**=इस नेत्रसम्बन्धी; **प्राणम्**=प्राणपर; **अनुगृह्णानः**=अनुग्रह करता हुआ; **उदयति**=उदित होता है; **पृथिव्याम्**=पृथ्वीमें; **या देवता**=जो (अपानवायुकी शक्तिरूप) देवता है; **सा एषा**=वही यह; **पुरुषस्य**=मनुष्यके; **अपानम्**=अपान वायुको; **अवष्टभ्य**=स्थिर किये; **[वर्तते]**=रहता है; **अन्तरा**=पृथ्वी और स्वर्गके बीच; **यत् आकाशः**=जो आकाश (अन्तरिक्षलोक) है; **सः समानः**=वह समान है; **वायुः व्यानः**=वायु ही व्यान है ॥ ८ ॥

व्याख्या—यह निश्चयपूर्वक समझना चाहिये कि सूर्य ही सबका बाह्य प्राण है। यह मुख्य प्राण सूर्यरूपसे उदय होकर इस शरीरके बाह्य

---

* एक शरीरसे निकलकर जब मुख्य प्राण उदानको साथ लेकर उसके द्वारा दूसरे शरीरमें जाता है, तब अपने अङ्गभूत समान आदि प्राणोंको तथा इन्द्रिय और मनको तो साथ ले ही जाता है, इन सबका स्वामी जीवात्मा भी उसीके साथ जाता है (गीता १५। ८) यह बात यहाँ कहनी थी; इसीलिये पूर्व मन्त्रमें जीवात्माका स्थान हृदय बतलाया गया है एवं इसका स्पष्टीकरण १० वें मन्त्रमें किया गया है।

अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको पुष्ट करता है और नेत्र-इन्द्रियरूप आध्यात्मिक शरीरपर अनुग्रह करता है—उसे देखनेकी शक्ति अर्थात् प्रकाश देता है। पृथ्वीमें जो देवता अर्थात् अपानवायुकी शक्ति है, वह मनुष्यके भीतर रहनेवाले अपानवायुको आश्रय देती है—टिकाये रखती है। यह इस अपानवायुकी शक्ति गुदा और उपस्थ इन्द्रियोंकी सहायक है तथा इनके बाहरी स्थूल आकारको धारण करती है। पृथ्वी और स्वर्ग-लोकके बीचका जो आकाश है, वही समानवायुका बाह्य स्वरूप है। वह इस शरीरके बाहरी अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको अवकाश देकर इसकी रक्षा करता है और शरीरके भीतर रहनेवाले समानवायुको विचरनेके लिये शरीरमें अवकाश देता है; इसीकी सहायतासे श्रोत्र-इन्द्रिय शब्द सुन सकती है। आकाशमें विचरनेवाला प्रत्यक्ष वायु ही व्यानका बाह्य स्वरूप है, यह इस शरीरके बाहरी अङ्ग-प्रत्यङ्गको चेष्टाशील करता है और शान्ति प्रदान करता है; भीतरी व्यानवायुको नाडियोंमें संचारित करने तथा त्वचा-इन्द्रियको स्पर्शका ज्ञान करानेमें भी यह सहायक है ॥ ८ ॥

तेजो ह वा उदानस्तस्मादुपशान्ततेजाः पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः ॥ ९ ॥

ह तेजः वै=प्रसिद्ध तेज (गर्मी) ही; **उदानः**=उदान है; **तस्मात्**=इसीलिये; **उपशान्ततेजाः**=जिसके शरीरका तेज शान्त हो जाता है, वह (जीवात्मा); **मनसि**=मनमें; **सम्पद्यमानैः**=विलीन हुई; **इन्द्रियैः**=इन्द्रियोंके साथ; **पुनर्भवम्**=पुनर्जन्मको (प्राप्त होता है) ॥ ९ ॥

व्याख्या—सूर्य और अग्निका जो बाहरी तेज अर्थात् उष्णत्व है, वही उदानका बाह्य स्वरूप है। वह शरीरके बाहरी अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको ठंडा नहीं होने देता और शरीरके भीतरकी ऊष्माको भी स्थिर रखता है। जिसके शरीरसे उदानवायु निकल जाता है, उसका शरीर गरम नहीं रहता; अतः शरीरकी गर्मी शान्त हो जाते ही उसमें रहनेवाला जीवात्मा मनमें विलीन हुई इन्द्रियोंको साथ लेकर उदानवायुके साथ-साथ दूसरे शरीरमें चला जाता है (गीता १५। ८) ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—*अब आश्वलायनके चौथे प्रश्नमें आयी हुई एक शरीरसे निकलकर दूसरे शरीरमें या लोकोंमें प्रवेश करनेकी बातका पुनः स्पष्टीकरण किया जाता है—*

****

यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति ॥ १० ॥

एषः=यह (जीवात्मा); **यच्चित्तः**=जिस संकल्पवाला होता है; **तेन**=उस संकल्पके साथ; **प्राणम्**=मुख्य प्राणमें; **आयाति**=स्थित हो जाता है; **प्राणः**= मुख्य प्राण; **तेजसा युक्तः**=तेज (उदान) से युक्त हो; **आत्मना सह**=अपने सहित (मन, इन्द्रियोंसे युक्त जीवात्माको); **यथासंकल्पितम्**=उसके संकल्पानुसार; **लोकम्**=भिन्न-भिन्न लोक अथवा योनिमें; **नयति**=ले जाता है ॥ १० ॥

व्याख्या—मरते समय इस आत्माका जैसा संकल्प होता है, इसका मन अन्तिम क्षणमें जिस भावका चिन्तन करता है (गीता ८ । ६), उस संकल्पके सहित मन, इन्द्रियोंको साथ लिये हुए यह मुख्य प्राणमें स्थित हो जाता है। वह मुख्य प्राण उदानवायुसे मिलकर अपने सहित मन और इन्द्रियोंसे युक्त जीवात्माको उस अन्तिम संकल्पके अनुसार यथायोग्य भिन्न-भिन्न लोक अथवा योनिमें ले जाता है। अतः मनुष्यको उचित है कि अपने मनमें निरन्तर एक भगवान्‌का ही चिन्तन रखे, दूसरा संकल्प न आने दे, क्योंकि जीवन अल्प और अनित्य है, न जाने कब अचानक इस शरीरका अन्त हो जाय। यदि उस समय भगवान्‌का चिन्तन न होकर कोई दूसरा संकल्प आ गया तो सदाकी भाँति पुनः चौरासी लाख योनियोंमें भटकना पड़ेगा ॥ १० ॥

सम्बन्ध—*अब प्राणविषयक ज्ञानका सांसारिक और पारलौकिक फल बतलाते हैं—*

य एवं विद्वान्प्राणं वेद न हास्य प्रजा हीयतेऽमृतो भवति तदेष श्लोकः ॥ ११ ॥

यः विद्वान्=जो कोई विद्वान्; **एवम् प्राणम्**=इस प्रकार प्राण (के रहस्य) को; **वेद**=जानता है; **अस्य**=उसकी; **प्रजा**=संतानपरम्परा; **न ह हीयते**=कदापि नष्ट नहीं होती; **अमृतः**=(वह) अमर; **भवति**=हो जाता है; **तत् एषः**=इस विषयका यह (अगला); **श्लोकः**=श्लोक (है) ॥ ११ ॥

व्याख्या—जो कोई विद्वान् इस प्रकार इस प्राणके रहस्यको समझ लेता है,

प्राणके महत्त्वको समझकर हर प्रकारसे उसे सुरक्षित रखता है, उसकी अवहेलना नहीं करता, उसकी संतानपरम्परा कभी नष्ट नहीं होती, क्योंकि उसका वीर्य अमोघ और अद्भुत शक्तिसम्पन्न हो जाता है। और वह यदि उसके आध्यात्मिक रहस्यको समझकर अपने जीवनको सार्थक बना लेता है, एक क्षण भी भगवान्के चिन्तनसे शून्य नहीं रहने देता, तो सदाके लिये अमर हो जाता है अर्थात् जन्म-मरणरूप संसारसे मुक्त हो जाता है। इस विषयपर निम्नलिखित ऋचा है— ॥ ११ ॥

उत्पत्तिमायतिं स्थानं
विभुत्वं चैव पञ्चधा।
अध्यात्मं चैव प्राणस्य विज्ञायामृत-
मश्नुते विज्ञायामृतमश्नुत इति ॥ १२ ॥

प्राणस्य=प्राणकी; **उत्पत्तिम्**=उत्पत्ति; **आयतिम्**=आगम; **स्थानम्**= स्थान; **विभुत्वम् एव**=और व्यापकताको भी; **च**=तथा; **[बाह्यम्] एव अध्यात्मम् पञ्चधा च**=बाह्य एवं आध्यात्मिक पाँच भेदोंको भी; **विज्ञाय**=भलीभाँति जानकर; **अमृतम् अश्नुते**=(मनुष्य) अमृतका अनुभव करता है; **विज्ञाय अमृतम् अश्नुते इति**=जानकर अमृतका अनुभव करता है। यह पुनरुक्ति प्रश्नकी समाप्ति सूचित करनेके लिये है ॥ १२ ॥

व्याख्या—उपर्युक्त विवेचनके अनुसार जो मनुष्य प्राणकी उत्पत्तिको अर्थात् यह जिससे और जिस प्रकार उत्पन्न होता है—इस रहस्यको जानता है, शरीरमें उसके प्रवेश करनेकी प्रक्रियाका तथा इसकी व्यापकताका ज्ञान रखता है तथा जो प्राणकी स्थितिको अर्थात् बाहर और भीतर—कहाँ-कहाँ वह रहता है, इस रहस्यको तथा इसके बाहरी और भीतरी अर्थात् आधिभौतिक और आध्यात्मिक पाँचों भेदोंके रहस्यको भलीभाँति समझ लेता है, वह अमृतस्वरूप परमानन्दमय परब्रह्म परमेश्वरको प्राप्त कर लेता है तथा उस आनन्दमयके संयोग-सुखका निरन्तर अनुभव करता है ॥ १२ ॥

॥ तृतीय प्रश्न समाप्त ॥ ३ ॥



चतुर्थ प्रश्न

अथ हैनं सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ भगवन्नेतस्मिन्पुरुषे कानि स्वपन्ति कान्यस्मिञ्जाग्रति कतर एष देवः स्वप्नान्पश्यति कस्यैतत्सुखं भवति कस्मिन्नु सर्वे सम्प्रतिष्ठिता भवन्तीति ॥ १ ॥

अथ=तदनन्तर; **ह एनम्**=इन प्रसिद्ध महात्मा (पिप्पलाद मुनि) से; **गार्ग्यः**=गर्गगोत्रमें उत्पन्न; **सौर्यायणी पप्रच्छ**=सौर्यायणी ऋषिने पूछा; **भगवन्**=भगवन् !; **एतस्मिन् पुरुषे**=इस मनुष्य-शरीरमें; **कानि स्वपन्ति**=कौन-कौन सोते हैं; **अस्मिन् कानि जाग्रति**=इसमें कौन-कौन जागते रहते हैं; **एषः कतरः देवः**=यह कौन देवता; **स्वप्नान् पश्यति**=स्वप्नोंको देखता है; **एतत् सुखम्**=यह सुख; **कस्य भवति**=किसको होता है; **सर्वे**=(और) ये सब-के-सब; **कस्मिन्**=किसमें; **नु**=निश्चितरूपसे; **सम्प्रतिष्ठिताः**=सम्पूर्णतया स्थित; **भवन्ति इति**=रहते हैं, यह; (मेरा प्रश्न है) ॥ १ ॥

व्याख्या—यहाँ गार्ग्य मुनिने महात्मा पिप्पलादसे पाँच बातें पूछी हैं—(१) गाढ़ निद्राके समय इस मनुष्य-शरीरमें रहनेवाले पूर्वोक्त देवताओंमेंसे कौन-कौन सोते हैं ? (२) कौन-कौन जागते रहते हैं ? (३) स्वप्न-अवस्थामें इनमेंसे कौन देवता स्वप्नकी घटनाओंको देखता रहता है ? (४) निद्रा-अवस्थामें सुखका अनुभव किसको होता है ? और (५) ये सब-के-सब देवता सर्वभावसे किसमें स्थित हैं ? अर्थात् किसके आश्रित हैं ? इस प्रकार इस प्रश्नमें गार्ग्य मुनिने जीवात्मा और परमात्माका पूरा-पूरा तत्त्व पूछ लिया ॥ १ ॥

तस्मै स होवाच यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकीभवन्ति । ताः पुनः पुनरुदयतः प्रचरन्त्येवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति । तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नादत्ते नानन्दयते न विसृजते नेयायते स्वपितीत्याचक्षते ॥ २ ॥

तस्मै सः ह उवाच=उससे उन सुप्रसिद्ध महर्षिने कहा; **गार्ग्य**=हे गार्ग्य !;

यथा=जिस प्रकार; **अस्तम् गच्छतः अर्कस्य**=अस्त होते हुए सूर्यकी; **सर्वाः मरीचयः**=सब-की-सब किरणें; **एतस्मिन् तेजोमण्डले**=इस तेजोमण्डलमें; **एकीभवन्ति**=एक हो जाती हैं (फिर); **उदयतः ताः**=उदय होनेपर वे (सब); **पुनः पुनः**=पुनः-पुनः; **प्रचरन्ति**=सब ओर फैलती रहती हैं; **ह एवम् वै**=ठीक ऐसे ही (निद्राके समय); **तत् सर्वम्**=वे सब इन्द्रियाँ (भी); **परे देवे मनसि**=परम देव मनमें; **एकीभवति**=एक हो जाती हैं; **तेन तर्हि एषः पुरुषः**=इस कारण उस समय यह जीवात्मा; **न शृणोति**=न (तो) सुनता है; **न पश्यति**=न देखता है; **न जिघ्रति**=न सूँघता है; **न रसयते**=न स्वाद लेता है; **न स्पृशते**=न स्पर्श करता है; **न अभिवदते**=न बोलता है; **न आदत्ते**=न ग्रहण करता है; **न आनन्दयते**=न मैथुनका सुख भोगता है; **न विसृजते**=न मल-मूत्रका त्याग करता है (और); **न इयायते**=न चलता ही है; **स्वपिति इति आचक्षते**=उस समय 'वह सो रहा है' यों (लोग) कहते हैं॥ २॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें महात्मा पिप्पलाद ऋषिने गार्ग्यके पहले प्रश्नका इस प्रकार उत्तर दिया है—'गार्ग्य ! जब सूर्य अस्त होता है, उस समय उसकी सब ओर फैली हुई सम्पूर्ण किरणें जिस प्रकार उस तेजःपुञ्जमें मिलकर एक हो जाती हैं, ठीक उसी प्रकार गाढ़ निद्राके समय तुम्हारे पूछे हुए सब देवता अर्थात् सब-की-सब इन्द्रियाँ उन सबसे श्रेष्ठ जो मनरूप देव है, उसमें विलीन होकर तद्रूप हो जाती हैं। इसलिये उस समय यह जीवात्मा न तो सुनता है, न देखता है, न सूँघता है, न स्वाद लेता है, न स्पर्श करता है, न बोलता है, न ग्रहण करता है, न चलता है, न मल-मूत्रका त्याग करता है और न मैथुनका सुख ही भोगता है। भाव यह है कि उस समय दसों इन्द्रियोंका कार्य सर्वथा बंद रहता है। केवल लोग कहते हैं कि इस समय यह पुरुष सो रहा है।*

---

* यहाँ सुषुप्तिकालमें मनका व्यापार चालू रहता है या नहीं, इस विषयमें कुछ नहीं कहा। सब इन्द्रियोंका मनमें विलीन हो जाना तो बताया गया; किंतु मन भी किसीमें विलीन हो जाता है— यह बात नहीं कही गयी। महर्षि पतञ्जलि भी निद्राको चित्तकी एक वृत्ति